कार्यालय आर्यग्रन्थावलि लाहौर

श्रीवाल्मीकि रामायण

हिन्दी टीका सहित।

जिस पर ७००) रु० इनाम मिला है।

(१) पं०राजाराम जी प्रोफैसर डी०ए०वी० कालेज लाहौर ने जो वाल्मीकि रामायण का हिन्दी में उल्था किया है, वह ऐसा सरस, सरल और प्रामाणिक उल्था हुआ है, कि उस पर प्रसन्न होकर **पञ्जाब यूनीवर्सिटी** ने ५००) रु० और **पञ्जाब गवर्नमिन्ट** ने २००) रु० पण्डित जी को इनाम दिया है (१) इसमें मूल संस्कृत भी साथ है (२) हिन्दी टीका बड़ी ही सरल है, जिसको बच्चे भी चाव से पढ़ते हैं (३) कण्ठ करने योग्य उत्तम २ श्लोकों पर निशान दिये हैं॥

यह जीवन को सुधार कर नया जीवन बना देने वाली पुस्तक हरएक घर में अवश्य होने योग्य है। ऐसी उत्तम और इतनी बड़ी पुस्तक का मूल्य ५।) सुनहरी अक्षरों की जिल्द वाली ५।।।)

(२) संक्षिप्त महाभारत-अनावश्यक भाग छोड़ कर महाभारत मूल और इस का हिन्दी उल्था दोनों इकट्ठे छप रहे हैं। अनुवाद बड़ा सरल सरस और स्पष्ट हुआ है। इस पर योग्य विद्वानों ने जो सम्मतियां दी हैं, उनका संक्षेप यह है—'इन दिनों पं० राजाराम जी एक सटीक महाभारत निकाल रहे हैं, यह टीका बड़ी ही तहकीकात के साथ लिखी जा रही है। महाभारत के जितने तर्जुमे भाषा वा उर्दू में हुए हैं, उन में से किसी एक में भी

छान्दोग्य उपनिषद् का विषय सूची।

प्रवाक—पृष्ठ

दूसरा प्रपाठक ।

प्रवाक—पृष्ठ

तीसरा प्रपाठक ।

चौथा प्रपाठक

पांचवां प्रपाठक

छठा प्रपाठक

सातवां प्रपाठक ।

आठवां प्रपाठक

छान्दोग्य उपनिषद् के प्रवाकों की वर्णानुक्रमणिका

खंडविभागाद्यपदानि अध्यायादीनि

खंडविभागाद्यपदानि अध्यायादीनि

खंडविभागाद्यपदानि	अध्यायादीनि
अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद	१.११.४
अथ हैनं यजमानः	....१.११.१
अथ हैनं वागुवाच	....५.१.१३
अथ हैनं श्रोत्रमुवाच	५.१.१४
अथ होवाच जनं	....५.१५.१
अथ होवाच बुडिलं	....५.१६.१
अथ होवाच सत्ययज्ञं	५.१३.१
अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं	....५.१४.१
अथ होवाचोद्दालकं	....५.१७.१
अथात आत्मादेश एव	७.२५.२
अथातः शौवः	....१.१२.१
अथाधिदैवतं	....१.३.१
अथाध्यात्मं प्राणोवाच	....४.३.३
अथाध्यात्मं य एवायं	....१.५.३
अथाध्यात्मं वागेव	....१.७.१
अथनु किमनुशिष्टः	....५.३.४
अथानेनैव	....१.७.८
अथाऽऽवृत्तेषु औहिंकारः	[illegible].२.२
अथैतयोःपथोः	....५.१०.८
अथोताप्याहुः	....२.१.३
अधीहि भगव इति होपससाद	....७.१.१
अनिरुक्तस्त्रयोदशः	....१.१३.३

खंडविभागाद्यपदानि	अध्यायादीनि
अन्तरिक्षमेव	....१.६.२
अन्तरिक्षोदरःकोशः	३.१५.१
अन्नमय ँ हि सोम्य मनः	....६.५.४
अन्नमशितं त्रेधा विधीयते	....६.५.१
अन्नमिति होवाच	....१.११.९
अन्नं वाव बलाद्भूयः	७.९.१
अन्यतरामेव वर्तनीं	....४.१६.३
अपाने तृप्यति	....५.२१.२
अपां का गतिः	....१.८.५
अपां सोम्य पीयमानानां	....६.६.३
अभिमन्थति सहिंकारः	२.१२.१
अभ्राणिसंप्लवन्ते	....२.१५.१
अभ्रं भूत्वा मेघो भवति	५.१०.६
अमृतत्वं देवेभ्यः	....२.२२.२
अयं वाव लोको हाउकारः	....१.१३.१
अयं वाव सः योऽयमन्तः पुरुष आकाशो	....३.१२.८
अयं वाव स योऽयमन्तर्हृदय आकाशः	३.१२.९
अरिष्टं कोशं प्रपद्ये	....३.१५.३

खंडविभागाद्यपदानि अध्यायादीनि

छान्दोग्य उपनिषद् ।

छान्दोग्य उपनिषद् सामवेद से सम्बन्ध रखती है। यह उपनिषद् छान्दोग्य ब्राह्मण का एक बहुत बड़ा भाग है, जिसके दो अध्याय और हैं, जो गृह्यविधि के सम्बन्ध में हैं। यह ब्राह्मण या तो इसी साधारण नाम से बोला जाता है, कि छन्दोगों का अर्थात् सामवेदियों का ब्राह्मण, या इसमें बहुत बड़ा भाग उपनिषद् का है, इस लिये उपनिषद् ब्राह्मण कहते हैं।

इस उपनिषद् के आठ प्रपाठक [वा अध्याय] और १५४ खण्ड हैं। प्रत्येक खण्ड के फिर छोटे २ अनेक खण्ड किये गए हैं, उनको प्रवाक कहते हैं। और वह प्रत्येक खण्ड में १, २, इत्यादि अंक लगाकर प्रकट किये गए हैं।

बृहदारण्यक की नाई छान्दोग्य में भी उपनिषद् के सारे विषय बड़े विस्तार के साथ पाए जाते हैं। इस उपनिषद् में इस विषय को बड़े ज़ोर के साथ बतलाया गया है, कि मनुष्य के संकल्प में कितना बल है। एक दृढसंकल्प पुरुष क्या कुछ अद्भुत काम कर सक्ता है, यह इस में जगह २ प्रकट किया गया है। हमें यह [३ । १६ में] सिखलाया गया है, कि यदि तुम्हारे संकल्प इस तरह [जिस तरह वहां शिक्षा दी है] पवित्र और दृढ रहेंगे, तो कोई भी रोग तुम्हें नहीं दबा सकेगा, और तुम सारे रोगों को जीतकर ११६ वर्ष की आयु लाभ करोगे। इसी तरह और बहुतसी उपयोगी

और अद्भुत शिक्षाएं इसमें दीगई हैं। सार यह है, कि मनुष्य इस ब्रह्माण्ड में एक दुर्बल वस्तु नहीं, वह एक बड़ी प्रबल और अद्भुत शक्ति है। उसको अपने ऊपर भरोसा नहीं, यही एक कारण है, कि वह दुर्बल बना हुआ है। जब उसे अपने ऊपर भरोसा होजाता है, तो फिर उसके लिये कोई रुकावट नहीं रहती। जैसा उसके अपने अन्दर पलटा आजाता है, वैसा ही वह अपने बाहर पलटा दे सक्ता है। पुरुष को ऐसा दृढ़ निश्चय इस उपनिषद् से सिखलाया गया है। और यह बहुत कुछ यज्ञों के रहस्यार्थ खोलने में प्रकट किया गया है।

इस उपनिषद् में, और ऐसा ही दूसरी उपनिषदों में भी, कई एक ऐसी उपासनाएं पाई जाती हैं, जिनकी साधना करने वालों का सम्प्रदाय अब नहीं रहा है, जिन में कि यह परम्परा से चली आती थीं। इसी लिये ऐसी जगह पर सिवाय अक्षरार्थ कह देने के और कुछ नहीं बन पड़ता। हां यह पूरी आशा है, कि ज्यों२ प्राचीन शास्त्रों में खोज की जाएगी, धीरे २ सब कुछ खुल जाएगा। जो कुछ अब हम समझते हैं, वह भी इतना पर्याप्त है, कि हम उसी से अपने जीवन को सर्वाङ्ग परिपूर्ण बना सक्ते हैं॥

पहला प्रपाठक—पहलाखण्ड

ओमित्येतदक्षर मुद्गीथमुपासीत । ओमिति ह्युद्गायति । तस्योपव्याख्यानम् । १ ।

(पुरुष को) चाहिये कि ओम् * इस अक्षर की उपासना

---

* ओम् के वर्णन में देखो–कठ० उप० २।१५–१७, प्रश्न० उप० प्रश्न ५ मुण्ड० उप० २। २। ३–६, तैत्ति० १।८।५; १।८, बृह० आर० उप० १।१।५,॥

करे, जो उद्गीथ कहलाता है, क्योंकि उद्गीथ ओम् से आरम्भ होता है *

उस (ओम्) का पूर्ण व्याख्यान यह है— । १ ।

भाष्य—उद्गीथ सामवेद का एक भाग है,जो ओम् से आरम्भ होता है। उद्गाता इसको सोमयज्ञों में गाता है। सोमयज्ञ सात हैं-अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम,उक्थ, षोडशी, वाजपेय,अतिरात्र, अप्तोर्याम। यही सात सोमयज्ञ की सप्त संस्था कहलाती हैं।

इन यज्ञों में सोलह २ ऋत्विज् होते हैं, जिन में चार सामवेदी होते हैं। उनमें उद्गाता मुख्य है, और दूसरे तीन (प्रस्तोता, प्रति हर्ता और सुब्रह्मण्य) उसके सहायक हैं। उद्गाता इन यज्ञों में साम के उद्गीथ भाग को गाता है। यह उद्गीथ ओम् से आरम्भ होता है, जिस को उद्गाता पहले एक लम्बे और ऊंचे स्वर में गान करता है, और फिर शेष उद्गीथ को गाता है । यह उद्गीथ के आरम्भ का अक्षर सामवेदियों का परम आदरणीय अक्षर है। मानों, यह उद्गीथ के सारे उपदेश का निचोड़ है। अतएव सामवेदियों में केवल ओम् अक्षर भी उद्गीथ ही कहा जाता है, इस का अधिक प्रयुक्त नाम प्रणव है। इस तरह सारे सामवेद का सार ओम् है। यह सामवेदीय उपनिषद् इसी ओम् पर ध्यान करने का उपदेश देती हुई आरम्भ होती है। उपनिषद् का उद्देश्य ओम् के बहुत से अर्थ बतलाने में है, जो उपासक के हृदय में जमजाने चाहियें, और अन्ततः उपासक को ओम् के सब से ऊंचे अर्थ अर्थात् ब्रह्म,जोकि इस सारे विश्वका आधार है,उस पर पहुंचा देना है। वस्तुतः ओम् सारे वेदों का सार है, जैसा कि इसी प्रकरण में

---

* अक्षरार्थ—क्योंकि ओम् यह कह कर उद्गान करता है (उद्गीथ गाता है) ॥

आगे प्रकट होगा। इसी लिये हरएक वेद और वैदिक कर्म इसी से आरम्भ होता है। और स्वाध्याय के आदि और अन्त में इसका प्रयोग किया जाता है, इस अभिप्राय से कि इन सब पुण्यकर्मों का परमलक्ष्य ओम् * है। उपासक को चाहिये, कि जब वह ओम् का उच्चारण करे, तो ओम् की यह महिमा उसके ध्यान में हो, जो यहां सविस्तर वर्णन की जाएगी। फिर वह अपने लिये, वा उद्गाता बनकर यजमान के लिये, जो कुछ मांगेगा, निःसन्देह पाएगा ॥

एषां भूतानां पृथिवी रसः,पृथिव्या आपो रसः,अपामोषधयोरस,ओषधीना पुरुषोरसः,पुरुषस्यवाग्रसो,वाच ऋग्रस,ऋचः साम रसः,साम्नउद्गीथो रसः।२।स एष रसाना ᳒ रसतमः परमः परार्ध्योऽष्टमो यदुद्गीथः।३।

इन सारे भूतों का रस † पृथिवी है, पृथिवी का रस जल है,

---

* तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपः क्रियाः। प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम् (गीता० १७। २४) इसलिये वैदिक लोग पहले ओम् का उच्चारण करके तब यज्ञ दान और तप इत्यादि वेदोक्त कर्मों को आरम्भ करते हैं ॥

† रस यहां भिन्न २ अभिप्राय को बोधन करता है,आश्रय,कारण और सार। रस जिससे पोदे बढ़ते हैं, वह उनका आश्रय है, उनकी कान्ति और जीवन का हेतु है। इस अभिप्राय को लेकर रस शब्द आश्रय वा कारण के अर्थ में प्रयोग किया जाता है। रस जब पोदों से निचोड़ लिया जाता है, तो वह उनका सार कहलाता है, इस आशय से रस शब्द सार के अर्थमें प्रयोग किया जाता है। यहां यह शब्द दोनों अभिप्रायों में प्रयोग किया गया है। पृथिवी सब भूतों का आश्रय है, पानी पृथिवी पर फैले हुए हैं, जो इसकी कान्ति और जीवन का हेतु हैं। पोदे पानियों से उत्पन्न होते हैं। मनुष्य पोदों के

अन्न का रस ओषधियें हैं, ओषधियों का रस मनुष्य है, मनुष्य का रस वाणी है, वाणी का रस ऋचा (ऋग्वेद) है, ऋचा का रस साम (वेद) है, साम का रस उद्गीथ है (जो ओम् है)। २।

सो यह जो (रसों के सिलसिले में) आठवां (रस) उद्गीथ (ओम्) है, यह सारे रसों में सबसे उत्तम, सबसे ऊंचा, सबसे ऊंचे स्थान (दर्जे) के योग्य है। ३।

कतमा कतमर्क्, कतमत् कतमत् साम, कतमः कतम उद्गीथ. इति विमृष्टं भवति । ४ ।

वागेवर्क् प्राणः साम, ओमित्येतदक्षरमुद्गीथः। तद्वा एतन्मिथुनं यद् वाक्च प्राणश्चर्क् च साम च ।५।

तदेतन्मिथुनमोमित्येतस्मिन्नक्षरे स ँ सृज्यते । यदा वै मिथुनौ समागच्छतः, आपयतो वै तावन्योऽन्य-स्य कामम् । ६ ।

आपयिता ह वै कामानां भवति, य एतदेवं विद्वा-नक्षरमुद्गीथमुपास्ते । ७ ।

आश्रय जीता है। वाणी मनुष्य का सार (सब से उत्तम भाग) है। ऋग्वेद वाणी का सार है। सामवेद ऋचाओं से खींचा हुआ रस है। उद्गीथ (ओम् अक्षर) साम का रस है। यह साम के मधुर स्वर से गाया जाता है और सारे वेदों का परम लक्ष्य जो परब्रह्म है, उस का प्यारा नाम है। सारी बाह्य सृष्टि का निचोड़ मनुष्य है। उसका निचोड़ वाणी और उसका परम रस ओम् है॥

* तब ऋचा क्या है ? साम क्या है ? उद्गीथ क्या है ? यह विचार है (प्रश्न है) । ४ ।

ऋचा वाणी ही है, साम प्राण है, उद्गीथ ओम् अक्षर है † । अब यह जो वाणी और प्राण है, या ऋचा और साम है, यह एक जोड़ा (मिथुन) है । ५ ।

और यह जोड़ा ओम् इस अक्षर में मेळ रखता है ‡ । जब दो मेली इकट्ठे मिलते हैं, तो वह एक दूसरे की कामना को पूरा करते हैं । ६ ।

इस प्रकार वह जो यह जानता हुआ, उद्गीथ (ओम्) अक्षर को उपासता है (ओम् पर ध्यान धरता है), वह (उद्गाता, यजमान की) कामनाओं को पूरा करने वाला बन जाता है । ७ ।

तद्वा एतदनुज्ञाक्षरं, यद्धि किंचानुजानाति, ओमित्येव तदाह। एषो एव समृद्धिः, यदनुज्ञा। समर्धयिता ह वै कामानां भवति, य एतदेवं विद्वानक्षरमुद्गीथमुपास्ते।८।

---

* उद्गीथ इस सृष्टि में रसों का रस है, इस बात के बतलाने के लिये जो पूर्व रस गिनाए हैं, उन में जो ऋचा, साम और उद्गीथ हैं, वह क्या हैं, इस बात का अब यहां विचार करते हैं। यहां 'कतमा' इत्यादि दो २ बार आदर के लिये कहा गया है।

† वाणी ऋचाओं का चश्मा है और प्राण साम का, क्योंकि वाणी ही ऋचा का रूप धारण करती है, और प्राण साम (स्वर) का, इस लिये ऋचा अपने असली रूप में वाणी ही है और साम प्राण है।

‡ ओम् में वाणी और प्राण का जोड़ा इस तरह मिला हुआ है, कि ओम् स्वयं एक वाणी है और सारी वाणी का सार है। वाणी की उत्पत्ति का मुख में सब से पहला स्थान कण्ठ है और सब से अन्तिम, होंठ। ओम् अ+उ+म्, है। इनमें से अ कण्ठ में उच्चारण

यह [अक्षर] एक अनुज्ञा का अक्षर है, क्योंकि जिस किसी [वस्तु] की [पुरुष] अनुज्ञा देता है, वह यही कहता है ओम् * हां । अब यह जो अनुज्ञा है यह एक समृद्धि † है । वह जो इस प्रकार

होता है और मुंह के खुला रखने से उच्चारण होता है, उ सारे मुख को वायु से पूर्ण करता हुआ और होठों को संकुचित करता हुआ उच्चरित होता है, उसके पीछे म उच्चरित होते समय होठों को बिल्कुल बंद कर देता है । अर्थात् ओम् वाणी के सारे स्थानों को व्यापकर उच्चारित होता है, अतएव यह वाणी के सारे स्थानों में व्यापने वाला अव्यय सर्वव्यापक अव्यय परमात्मा का नाम होने के अधिक योग्य है । और जब यह ऊंचे स्वर से उच्चारण किया जाता है, तो प्राण और वाणी दोनों का इस में मेल होजाता है, क्योंकि स्वर प्राण का रूप है । बस प्राण और वाणी ही मनुष्य का उत्तम जीवन हैं और उसकी सारी कामनाओं के साधक हैं । जब यह जोड़ा ओम् में मिलता है, तो अपनी इस शक्ति को ओम् में स्थापन करता है । वह उद्गाता जो उद्गीथ के आरम्भ में ओम् की इस शक्ति पर ध्यान करता हुआ ओम् का उच्चारण करता है, वह यजमान की सारी कामनाओं को पूरा करता है 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति,

* देखो, बृह० आर० उप० ३ । ९ । १; । ६ । २ । १

† समृद्धि, भाषा में हमें कोई ऐसा शब्द नहीं मिला, जो इसके विशाल अर्थों को प्रकट कर सके, इस लिये हमने वही शब्द रहने दिया है । समृद्धि, फलना फूलना, सरसब्ज होना, बढ़ना, बड़ी बहुतायत से होना । समृद्धि, व्यृद्धि और सम्पत्ति इन तीनों शब्दों का मुकाबिले में अर्थ समझने से समृद्धि का अर्थ पूरा २ समझ में आजाएगा । जब कोई देश धन में, वाणिज्य में, विद्या में, बल में, प्रभुता में, धर्म में इतना अमीर है, कि वह इन सारी बातों में अपना निर्भर किसी दूसरे देश पर नहीं रखता, तो वह देश सम्पन्न है, और यह उसकी सम्पत्ति है और यदि वह इतना बढ़ा हुआ है, कि वह अपनी सारी ज़रूरतों को पूरा करके दूसरों की ज़रूरतों को भी पूरा करसका है ।

जानता हुआ इस उद्गीथ [ओम्] अक्षर को उपासता है, वह [यजमान की] कामनाओं का समृद्ध करने वाला होता है । ८ ।

भाष्य पहले ओम् को सारी सृष्टि का निचोड़ बतलाया है। फिर सारी कामनाओं का पूरा करने वाला बतलाया है। अब यहां तीसरी महिमा उसकी यह बतलाते हैं, कि ओम् में समृद्धि का गुण पाया जाता है। और इसका यह गुण इस बात से प्रतीत होता है, कि यह ओम् एक अनुज्ञा का अक्षर है। अर्थात् संस्कृत में अनुज्ञा देते समय ओम् कहा जाता है। अनुज्ञा=अनुमति [इजाज़त, Permission] अब इस बात को देखना है, कि अनुज्ञा देने का अधिकार किसको है? जो धर्म में, धन में, प्रभुता में, वा विद्या में दूसरों से बढ़ा हुआ नहीं, उससे कोई अनुज्ञा नहीं मांगता, न वह किसी को देता है। हां उसको आप दूसरों से अनुज्ञा मांगने की अवश्य आवश्यकता पड़ती है। पर अनुज्ञा उसी से मांगी जाती है, और उसी को देने का अधिकार भी है, जो धर्म में, विद्या में, प्रभुता में, वा धन में, दूसरों से आगे बढ़ा हुआ है। इससे क्या सिद्ध होता है, यह, कि अनुज्ञा मनुष्य की समृद्धि है, जो समृद्ध है, उसी को अनुज्ञा देने का अधिकार है, असमृद्ध को नहीं। तब यह ओम् जो अनुज्ञा देने

अर्थात् जिसका वाणिज्य, धन, विद्या प्रभुता आदि इतने बढ़ेहुए हैं, कि वह अपनेआप में समा नहीं सके। तो वह देश समृद्ध है और यह उसकी समृद्धि है। और यदि वह देश इतना पीछे है, कि वह वाणिज्य विद्या प्रभुता आदि में से किसी अंश में भी दूसरेदेशे पर निर्भररखता है, तोवह देशव्यृद्ध है, और यहबुर्दशा उसकी व्यृद्धि है। यहां "सारी कामनाओं को समृद्धकरताहै" इससेयह अभिप्राय है, कि वह यजमान की कामनाओंको इतनाबढा करपूराकरता है, कि वह अपनी सारी जरूरतों को पूरा करके दूसरों की जरूरतों कोभी उससे पूरा करसका है।

में बोला जाता है, बोलने वाले की समृद्धि को प्रकट करता है, यह ओम् की महिमा है। वह उद्गाता जो इस महिमा पर ध्यान धरता हुआ ओम् का उच्चारण करता है, वह यजमान की कामनाओं को फलता फूलता बना देता है।

तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते, ओमित्याश्रावयति, ओमिति शꣳसति, ओमित्युद्गायति, एतस्यैवाक्षरस्यापचित्यै महिम्ना रसेन । ९ ।

उस [ओम् अक्षर] से यह त्रयी विद्या [ऋचा, यजु और साम की विद्या] प्रवृत्त होती है, ओम् यह कहकर [अध्वर्यु] आश्रावण कराता है। ओम् यह कहकर [होता] स्तुति करता है। ओम् यह कहकर [उद्गाता] गाता है। इसी अक्षर की पूजा के लिये। [इसी की] महिमा से [इसी के] रस से * । ९ ।

भाष्य--पहले तीन गुणों के साथ तो ओम् की उपासना बतलाई है। अब यहां केवल स्तुति है। यहां 'आश्रावयति, शंसति, उद्गायति' यह

---

* 'महिम्ना रसेन' महिमा से रस से : इसका अभिप्राय स्पष्ट नहीं है। स्वामी शंकराचार्य ने इसका अभिप्राय यह वर्णन किया है। कि यज्ञ इसी अक्षर की पूजा के लिए किया जाता है। इसी अक्षर की महिमा से किया जाता है और इसी के रस से किया जाता है। इस अक्षर की महिमा से अर्थात् ऋत्विज, यजमान और पत्नी के प्राणों से, और इसी के रस से अर्थात् चावल और जौ आदि के रस से बनी हुई हवि से। प्राण और अन्न का ओम् अक्षर के साथ यह सम्बन्ध है, कि याग होम आदि ओम् अक्षर से किया जाता है। वह सूर्य को पहुंचता है। सूर्य वृष्टि को भेजता है। वृष्टि से अन्न होता है। और अन्न जीवन और प्राण का हेतु है। और प्राण और अन्न से यज्ञ किया जाता है, इस लिए कहा है कि यज्ञ अक्षर की महिमा से और अक्षर के रस से किया जाता है।

यज्ञ के पारिभाषिक [इस्तलाही Technical] शब्द हैं। यज्ञ में अध्वर्यु आग्नीध्र को 'ओम् आश्रावय' यह कहकर 'अस्तु श्रौषट्' कहने के लिये प्रेरणा करता है, यह 'आश्रावयति' से अभिप्राय है। होता जो स्तुति के शस्त्र [ऋचाओं का समुदाय] पढ़ता है, यह 'शंसति' से अभिप्राय है, और उद्गाता जो साममन्त्र गाता है, यह 'उद्गायति' से अभिप्राय है।

सोमयज्ञ में ये तीनों ऋत्विज् [अध्वर्यु, होता, उद्गाता] प्रायः काम में लगे रहते हैं। इन में से हर एक ऋत्विज् यज्ञ में अपना काम ओम् से आरम्भ करता है। अतएव सारा यज्ञ ओम् पर सहारा रखता है, और इस तरह पर यज्ञ मे ओम् की पूजा की जाती है, जो परमात्मा का नाम है। यह इस बात का निशान है, कि सारे यज्ञों का अन्तिम फल परमात्मा का जानना है।

तेनोभौ कुरुतो, यश्चैतदेवं वेद, यश्च न वेद। नाना तु विद्या चाविद्या च। यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवतीति खल्वेतस्यैवाक्षरस्योपव्याख्यानं भवति ॥ १० ॥ १ ॥

उससे [ओम् अक्षर से, यज्ञ तो] दोनों करते हैं, वह जो यह [ओम् के इस सच्चे अर्थ को] जानता है, और वह जो नहीं जानता है। पर जानने और न जानने में बड़ा भेद है। [वह यज्ञ] जिसको पुरुष विद्या से श्रद्धा से और उपनिषद् से पूरा करता है, वही अधिकशक्तिवाला होता है। यह [ओम्] अक्षर का पूरा व्याख्यान है। १०।

भाष्य—पहले आठ प्रवाकों में ओम् की उपासना बतलाकर नवें में यज्ञ का सारा निर्भर ओम पर है, इस बात को दिखलाया है

और ऋत्विजों के लिये ओम् के रहस्य अर्थ का जानना आवश्यक दिखलाया है। इस पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है। कि वह जो ओम् अक्षर का केवल शुद्ध उच्चारण कर सक्ता है, और वह जो इसके गुह्य अर्थको जानताहै, दोनों ही यदि उसी यज्ञ को पूरा कर सक्ते हैं, तो क्या आवश्यकता है, कि ऋत्विज् इस के रहस्यार्थ को जाने। और, हमारा अपना अनुभव भी तो इसी बात को सिद्ध करताहै, कि एकतो वह है, जो हरीतकी[हरड] के गुणों को जानताहै, और दूसरा वह है जो नहीं जानताहै, पर दोनों को उसके सेवनसे एक जैसा विरेचन होता है। इसी तरह बादामरोगन के निकालने वाले बादामों को कूट कर उन पर पानी छिड़कते हैं। उन में से बहुत से ऐसे हैं, जो इस मोटे नियम [असूल] को भी नहीं जानते, कि क्यों पानी छिड़कने से बादामरोगन बाहर आता है। उनसे पूछो। पानी क्यों डालते हो? वह सीधे शब्दों में इस का उत्तर देंगे, इस के बिना निकलता नहीं। पानी डालने से क्यों निकलता है? परमेश्वर की मर्जी, हमारी तुम्हारी मर्ज़ी तो नहीं चलती। बस इस के सिवाय वह कुछ उत्तर नहीं देंगे। इतने भोले भाले तो निकालने वाले, पर बादामरोगन वैसाही निकलता है, जैसा एक पूर्ण वैज्ञानिक [साइन्सवेत्ता] केहाथ से निकल सकता है। क्योंकि 'नहि द्रव्यशक्तिर्ज्ञानमपेक्षते'=द्रव्य की निज शक्ति किसी के ज्ञान की परवाह नहीं करती। इसी तरह यज्ञ का अनुष्ठान और ओम्का उच्चारण भी अपना फल देगा, वह किसी के ज्ञान की परवाह नहीं करता? इस प्रश्न का उत्तर यह दिया है, कि न जानने की अपेक्षा जानना अत्युत्तम है। वेशक हीरा हीरा ही है, पर उसका जो मूल्य एक गंवार लाभ करता है, जौहरी उससे कई गुना अधिक लाभ करता है। ओम् के गुणों को जौहरी की तरह परखो और श्रद्धा से भरे हुए हृदय से उसका उच्चारण करो, उस

के रहस्यार्थ पर ध्यान धरो। तो तुम्हारा फल कई गुना बढ़जायगा।

यह विद्या, श्रद्धा और उपनिषद् यद्यपि यहां ओम् के सम्बन्ध में कही हैं, पर यह हर एक धर्मकार्य के अंग हैं। धर्मकार्यों में जो स्वभाव सिद्ध शक्ति है, वह इन अंगों के मेल से अधिक बलवाली बन जाती है। क्योंकि यह अन्तःकरण को और भी अधिक शुद्ध बनाते हैं और संकल्प को और भी अधिक दृढ़ बनाते हैं।

दूसरा खण्ड,

देवासुरा ह वै यत्र संयेतिरे। उभये प्राजापत्याः, तद्ध देवाउद्गीथ माजह्रुः,अनेनैनानभिभविष्यामइति।१।

* देवता और असुर जो दोनों प्रजापति की सन्तान हैं, † यह जब आपस में जुटे [एक दूसरे को जीतने के प्रयत्न में लगे] तब देवताओं ने उद्गीथ [ओम्] को ग्रहण किया, कि इससे हम इन को [असुरों] को दबालेंगे ॥ १ ॥

ते ह नासिक्यंप्राणमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे। तꣳहासुराः पाप्मना विविधुः,तस्मात् तेनोभयं जिघ्रति–सुरभि च दुर्गन्धि च, पाप्मना ह्येष विद्धः। २।

---

* यह आख्यायिका इसी तरह पर बृह० उप० १।३ में भी आई है, तथापि इन दोनों का उद्देश्य परस्पर विभिन्न है। यहां उपास्यप्राण उद्गीथावयव ओम् है और वहां उद्गीथ है। देखो वेदान्त ३।३।६–८

† मनुष्य की धार्मिक वृत्तियां देवता हैं, और पाप की वृत्तियां असुर। और प्रजपति मनुष्य है, जिस की ये दोनों सन्तान हैं। धर्म की वृत्तियां पाप की वृत्तियों को दबाना चाहती हैं, और पाप की वृत्तियां धर्म की वृत्तियों को। यही देवासुर संग्राम है (सविस्तर व्याख्या के लिये देखो बृहदारण्यक अध्याय १ ब्राह्मण ३)

उन्होंने [देवताओं ने] नासिका में होने वाले प्राण [प्राण] की दृष्टि से उद्गीथ [ओम्] की उपासना की, * उस [प्राण] को असुरों ने पाप से बींध दिया । इस लिये उस [प्राण] से मनुष्य दोनों को सूंघता है—जो सुगन्ध वाली वस्तु है और जो दुर्गन्ध वाली है, क्योंकि यह [प्राण] पाप से बींधा हुआ है † ।२।

* यज्ञ में उद्गाता ऐसा होना चाहिये, जो उद्गीथ (ओम्) का उपासक है, वही यजमान की कामनाओं को पूरा कर सका है और उसी से किया हुआ कर्म वीर्यवत्तर होता है, यह पूर्व कह चुके हैं। अब यह बतलाते हैं, कि उसे ओम् की उपासना करते समय किस स्वरूप पर ध्यान करना चाहिये । उद्गाता ने अपने उद्गीथ के गाने में दूसरों की (यजमान आदि की) भलाई मांगनी है । उस की प्रवृत्ति यहां स्वार्थ नहीं. किन्तु परार्थ है । इसलिए उसको ऐसे स्वरूप पर ध्यान धरना चाहिये,कि जिसकी प्रवृत्ति स्वार्थ न हो किन्तु परार्थ हो। जिसपर दूसरोंका सहारा हो न कि अपना सहारा दूसरों पर रक्खे ऐसे स्वरूप पर ध्यान धरनेसे उद्गाता का मन उसी रंगमें रंग जाता है 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति' तब वह सचमुच इस योग्य बन जाता है, कि वह दूसरों के लिये वर मांगे और उसकी प्रार्थना पूरी हो । ऐसा स्वरूप शरीर में प्राण है और बाह्य में सूर्य । प्राणसे इन्द्रियों की रक्षा होती है और सूर्य से सारी प्रजाओं की । इसलिए यहां सारे इन्द्रियों की परीक्षा करके सबमें स्वार्थ दिखलाकर अंतमें प्राण को केवल परार्थी दिखलाया है । सो शरीर में प्राण और बाह्य में सूर्य द्वारा ब्रह्म की जो महिमा (दूसरोंका सहारा होना) प्रकाशित होती है, उस महिमाके साथ ब्रह्म इन व्यष्टिरूपों में उद्गीथोपासना का ध्येय है ।

अक्षरार्थ 'नासिका में होने वाले प्राण की उद्गीथ उपासना' अर्थात् यह प्राण जो नासिका में चलता है, यह उद्गीथ है, ऐसा जान कर उद्गीथ की उपासना की ।

† पाप का फल केवल दुर्गन्ध है । प्राण यदि पाप से न बींधा जाता, तो वह केवल सुगन्ध ही सूंघता, अब पाप से बींधा हुआ है,

अथ ह वाच मुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे। ता ँ हासुराः पाप्मना विविधुः, तस्मात् तेनोभयं वदति-सत्यं चानृतं च, पाप्मना ह्येषा विद्धा। ३।

तब उन्हों ने वाणी की दृष्टि से उद्गीथ [ओम्] की उपासना की, पर असुरों ने उस को भी पाप से बींध दिया। इस लिये मनुष्य उस से दोनों बातें बोलता है—सच और झूठ; क्योंकि वाणी पाप से बींधी हुई है।

अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे। तद्धासुराःपाप्मना विविधुः, तस्मात्तेनोभयंपश्यति-दर्शनीयं चादर्शनीयं च, पाप्मना ह्येतद् विद्धम्। ४।

तब उन्हों ने आंख की दृष्टि से उद्गीथ की उपासना की, पर असुरों ने उसको भी पाप से बींध दिया, इसलिए मनुष्य उससे दोनों बातें देखता है—देखने योग्य और न देखने योग्य; क्योंकि आंख पाप से बींधी हुई है ॥४॥

अथ ह श्रोत्रमुद्गीथ मुपासाञ्चक्रिरे। तद्धासुराः पाप्मना विविधुः, तस्मात् तेनोभयँ शृणोति-श्रवणीयं चाश्रवणीयं च, पाप्मना ह्येतद् विद्धम्। ५।

तब उन्हों ने श्रोत्र की दृष्टि से उद्गीथ की उपासना की, पर असुरों ने उसको भी पाप से बींध दिया, इस लिए मनुष्य उससे दोनों

इस लिए दुर्गन्ध भी सूंघता है। सुगन्धमें घ्राण की अपनी आसक्ति (लालच) है, यही इस में पाप है। अर्थात् यद्यपि सुगन्ध सूंघने का फल सारे इन्द्रियों को मिलता है, तथापि घ्राण का काम स्वार्थ से शून्य नहीं, जैसा कि प्राण का है।

बातें सुनता है—सुनने योग्य और न सुनने योग्य क्योंकि श्रोत्र पाप से बींधा हुआ है ॥ ५ ॥

अथ ह मन उद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे। तद्धासुराः पाप्मना विविधुः, तस्मात तेनोभय॑संकल्पयते-संकल्पनीयं चा संकल्पनीयंच, पाप्मना ह्येतद् विद्धम् । ६ ।

तब उन्हों ने मन की दृष्टि से उद्गीथ (ओम्) की उपासना की, पर असुरों ने उसको भी पापसे बींध दिया, इस लिये मनुष्य उस से दोनों बातें सोचता है, वह जो सोचने योग्य है और वह जो नहीं सोचने योग्य है, क्योंकि मन पाप से बींधा हुआ है ॥ ६ ॥

अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणः, तमुद्गीथमुपासाञ्चक्रिरे। त॑ हासुरा ऋत्वा विदध्व॑सुर्यथाऽश्मानमाखन-मृत्वा विध्व॑सेत । ७ ।

अब यह जो मुख्य * [मुख में होनेवाला] प्राण है इस की दृष्टि से उन्हों ने उद्गीथ की उपासना की, जब असुर उस (मुख्य प्राण) के पास पहुंचे, तो वह इस तरह † तित्तर वित्तर हुए, जैसे एक (मट्टी का ढेला) किसी सख्त पत्थर पर लग कर चूर २ हो जाता है ॥ ७ ॥

एवं यथाऽश्मानमाखनमृत्वा विध्व॑सेत, एव॑

---

* मुख्य प्राण से दो अभिप्राय होसक्के हैं, मुखिया वा मुख में होनेवाला प्राण। प्राण सारे इन्द्रियों में मुखिया है श्रेष्ठ है [देखो [छान्दो० उप० ५ । १] और प्राण मुख में होने वाला है अयास्य है [देखो छान्दो० १ । २ । १९] ॥

† 'इसतरह यहपदम्का अर्थ है, जो आठवेंप्रवाक केआदिमेंहै। ऐसाही १०, ११, १२. प्रवाक म आदिका तन, पूर्वप्रवाक से सम्बद्ध है।

हैवस विध्व७ सते, य एवंविदि पापं कामयते यश्चैन-मभिदासति, स एषोऽश्माऽऽखणः। ८।

जैसे (मट्टी का ढेला) सख्त पत्थर पर लगकर चूर २ हो जाता है, इसी तरह वह पुरुष विनष्ट (तबाह) होता है, जो किसी ऐसे पुरुष के लिए पाप चिन्तन करता है, वा इसे सताता है, जो इस (रहस्य) का जाननेवाला है (अर्थात् प्राण की दृष्टि से उद्गीथ का का उपासक है)। क्योंकि वह (उपासक) एक सख्त पत्थर है ॥ ८ ॥

नैवैतेन सुरभि न दुर्गन्धि विजानाति, अपहतपाप्मा ह्येषः, तेन यदश्नाति यत् पिबति तेनेतरान् प्राणानवति। एतमु एवान्ततो ऽवित्त्वोत्क्रामति व्याददात्येवान्तत इति।९।

(यह जो मुख में प्राण है) इस से मनुष्य न तो सुगन्धवाली वस्तु को जानता है और न ही दुर्गन्धवाली को, क्योंकि यह (प्राण) पाप से बचा हुआ है. इससे मनुष्य जो कुछ खाता है और जो पीता है, उस से दूसरे प्राणों (इन्द्रियों) की रक्षा होती है। जब अन्त (मरण) समय होता है, तो इसी (प्राण, जिस के द्वारा हम खाते पीते और जीते हैं) के न मिलने से वह * (मनुष्य) चल देता है। वह अन्त समय में (मुंह को) अवश्यही खोल देता है † (मानों चाहता है, कि प्राण उस में वापिस आजाए) ॥ ९ ॥

---

* वह=घ्राण आदि इन्द्रियों का समुदाय। घ्राण आदि इन्द्रियें उस समय इस शरीर से चलदेते हैं, जब प्राण जो उन सब का पालन करने वाला (सर्वंभरि) है, वह अब खापी कर उन की रक्षा नहीं करसका (शंकराचार्य)

† प्राण के निकलते समय जो मनुष्य का मुंह खुलजाता है, यह इस बात का चिन्ह है, कि अब भी प्राण कुछ खाना चाहता है, जिस से वह अब भी इन्द्रियों को सहायता दे सके ॥ (शंकराचार्य)

तँ᳭ हाङ्गिरा उद्‌गीथ मुपासाञ्चक्रे, एतमु एवाङ्गिरसं मन्यन्ते, अङ्गानां यद्रसः ॥ १० ॥

अङ्गिरस् ने प्राण की दृष्टि से उद्गीथ (ओम्) की उपासना की, और लोग इसी को (प्राण को) ही आङ्गिरस मानते हैं, इस लिये कि प्राण अङ्गों का रस है (शरीर के अंग इसी से हरे भरे रहते हैं । अङ्ग+रस=आङ्गिरस्) ॥१०॥

तेन । तँ᳭ ह बृहस्पति उद्‌गीथ मुपासाञ्चक्रे, एतमु एव बृहस्पतिं मन्यन्ते,वाग्घि बृहती तस्या एष पतिः॥११

बृहस्पति ने प्राण की दृष्टि से उद्गीथ(ओम्) की उपासना की, और लोग इसी को बृहस्पति मानते हैं, इसलिये, कि वाणी बृहती है और यह (प्राण) उसका पति है (बृहती+पति=बृहस्पति) ॥ ११ ॥

तेन । तँ᳭ हायास्य उद्गीथमुपासाञ्चक्रे । एतमु एवा-यास्यं मन्यन्त, आस्याद् यदयते ॥ १२ ॥

अयास्य ने प्राण की दृष्टि से ओम् की उपासना की, और लोग इसी को अयास्य मानते हैं, इसलिये कि वह मुंह से आता है (आस्याद् अयते । आस्य+अयः=अयास्यः) ॥ १२ ॥

तेन । तँ᳭ ह बको दाल्भ्यो विदाञ्चकार,स ह नैमिषी-यानामुद्‌गाता बभूव । स हस्मैभ्यः कामानागायति१३

उसको (प्राण को) दाल्भ्य (दल्भ्य के पुत्र) बक ने जाना (उद्गीथ के तौर पर उपासना किया) वह नैमिषीयों (नैमिष वन के याज्ञिकों) का उद्गाता बना, और उसने गाकर इनकी कामनाओं को पूरा किया ॥ १३ ॥

आगाता ह वै कामानां भवति य एतदेवं विद्वानक्षर-मुद्गीथमुपास्ते । इत्यध्यात्मम् ॥ १४ ॥ २ ॥

वह जो इस (रहस्य) को इस प्रकार जानता हुआ उद्गीथ (ओम्) अक्षर की उपासना करता है, वह (उद्गीथ) गाकर कामनाओं का पूरा करने वाला बन जाता है । यह अध्यात्म है † ॥१४॥

तीसरा खण्ड

अथाऽधिदैवतम् । य एवासौ तपति, तमुद्गीथमुपासीत । उद्यन् वा एष प्रजाभ्य उद्गायति, उद्य १

---

* शंकराचार्य से पहले वृत्तिकार ने १० से १३ इन तीन प्रवाकों का एक साथ अन्वय करके यह अर्थ किया है । बक दाल्भ्य ने प्राण को आङ्गिरस् (अंगों का रस), बृहस्पति (वाणी का पति) और अयास्य (मुख से आने वाला) इन गुणों वाला मानकर उसकी उपासना की । पर यह अर्थ तब ठीक होसक्ता है, जो 'आङ्गिरा:' बृहस्पति:, अयास्य:, इनके आगे एक 'इति' हो । अथवा ये द्वितीयान्त हों । जो पाठ पाया जाता है, उसके अनुसार यही अर्थ ठीक है, कि आङ्गिरा, बृहस्पति और अयास्य ऋषियों ने प्राण की उपासना की । शंकराचार्य ने भी यही अर्थ लेकर वृत्तिकार के अर्थ का खण्डन किया है । और यह दिखलाया है, कि यद्यपि यहां साथ ही साथ आङ्गिरस्, बृहस्पति और अयास्य ये नाम व्युत्पत्ति द्वारा प्राण के भी दिखलाए हैं, तथापि ये नाम ऋषियों के भी हैं, इस में कोई रुकावट नहीं, जैसाकि ऐत० आर० में विशिष्ठ आदि नाम ऋषियों के भी हैं और प्राण के भी हैं ।

† अध्यात्म, जो शरीर के साथ सम्बन्ध रखता है । अर्थात् उद्गीथ (ओम्) के वह अर्थ बतला दिये हैं, जो शरीर वा शरीर के आश्रित इन्द्रियों के सम्बन्ध में हैं । अब उसके आधिदैवत अर्थात् जो देवताओं के सम्बन्ध में अर्थ हैं, वह बतलाएंगे ॥

स्तमो भय मपहन्ति । अपहन्ता हवै भयस्य तमसो भवति, य एवं वेद ॥ १ ०

अब आधिदैवत है—(अर्थात् देवताओं के विषय में उद्गीथ की उपासना बतलाते हैं) । वह (आकाश में सूर्य) जो तपरहा है, उसकी दृष्टि से उद्गीथ (ओम्) की उपासना करे । जब यह (सूर्य) उदय होता है, तो (उद्गाता के तौर पर) सारी प्रजाओं के लिये गाता है * और जब उदय होता है, तो अन्धेरे के भय को मार हटाता है । वह जो इस प्रकार जानता है (सूर्य की दृष्टि से ओम् को उपासता है), वह अन्धेरे (अविद्या) के भय को मार हटाने के योग्य बन जाता है ॥ १ ॥

समान उ एवायञ्चासौ च । उष्णोऽय मुष्णोऽसौ, स्वर इतीममाचक्षते, स्वर इति, प्रत्यास्वर इत्यमुम् । तस्माद्वा एतमिमममुं चोद्गीथमुपासीत ॥२॥

† यह (प्राण जो मुख में है) और वह (सूर्य जो आकाश में है) समान ही हैं । गर्म यह (प्राण) है, और गर्म वह (सूर्य) है । ‡ स्वर इस को कहते हैं, और स्वर और प्रत्यास्वर उस (सूर्य)

---

* जैसे उद्‌गाता उद्‌गीथ गाकर यजमान की कामनाओं को पूरा करता है । इसी प्रकार सूर्य अपने उदय से लोगों की कामनों को पूरा करता है । क्योंकि अनाज का पकना और जीवन सूर्य से मिलते हैं ।

† अध्यात्म प्राण और अधिदैवत सूर्य में समता दिखलाते हैं । प्राण देह को गर्म रखता है और सूर्य सारे जगत् को गर्मी पहुंचाता है । यह उन दोनों की गुण से समता है । अगली नाम से है अर्थात् दोनों को स्वर कहते हैं ॥

‡ स्वर=जाने वाला । प्रत्यास्वर=वापिस आने वाला । मरने के समय प्राण केवल जाताही है, उसी देह में फिर वापिस नहीं आता ।

को कहते हैं। इसलिये चाहिये कि इस (प्राण) और उस (सूर्य) की दृष्टि से उद्गीथ (ओम्) को उपासे ॥ २ ॥

अथ खलु व्यानमेवोद्गीथमुपासीत। यद्वै प्राणिति स प्राणः। यदपानिति, सोऽपानः। अथ यः प्राणापानयोः सन्धिः, स व्यानः। यो व्यानः सा वाक्। तस्माद् प्राणन्ननपानन् वाच माभिव्याहरति ॥३॥

अब (दूसरे प्रकार से उद्गीथ की उपासना कहते हैं) चाहिये कि व्यान निःसंदेह उद्गीथ है इस दृष्टि से उद्गीथ (ओम्) को उपासे। जो बाहर सांस निकालना है वह प्राण है, और जो अन्दर खींचना है, वह अपान है। अब जो प्राण और अपान की सन्धि है (जोड़ है, सांस का अन्दर ही थमना है) वह व्यान है। जो व्यान है वह वाणी है। इसलिए जब हम वाणी बोलते हैं, तो न बाहर सांस लेते हैं, न अन्दर खींचते हैं ॥ ३ ॥

या वाक् सर्क्, तस्मादप्राणन्ननपानन्नृच माभिव्याहरति। यर्क् तत्साम, तस्मादप्राणन्ननपानन् साम गायति। यत्साम स उद्गीथः, तस्मादप्राणन्ननपानन्नुद्गायति ॥ ४ ॥

अब यह जो वाणी है, वह ऋचा है, इस लिए जब हम ऋचा बोलते हैं, तो न बाहर-सांस लेते हैं, न अन्दर खींचते हैं। यह जो ऋचा है, वह साम है। इस लिए जब हम साम गाते हैं,

---

इसलिये प्राण को स्वर ही कहते हैं, प्रत्यास्वर नहीं कहते। और सूर्य अस्त होकर फिर भी दिन २ वापिस आता है, इसलिये वह स्वर भी है और प्रत्यास्वर भी है (शंकराचार्य)

तो न बाहर सांस लेते हैं, न अन्दर खींचते हैं।

यह जो साम है, यह उद्गीथ है। इस लिए जब इस उद्गीथ गाते हैं, तो न बाहर सांस लेते हैं, न अन्दर खींचते हैं *। ४।

अतो यान्यन्यानि वीर्यवन्ति कर्माणि—यथाऽग्नेर्मन्थनमाजेः सरणं दृढस्य धनुष आयमनम्, अप्राणन्ननपान ँ स्तानि करोति। एतस्य हेतो र्व्यानमेवोद्गीथ मुपासीत ॥ ५ ॥

† इसके सिवाय और जो काम ऐसे हैं, जिन में बल की आवश्यकता है, जैसाकि रगड़कर आग निकालना, दौड़ दौड़ना किसी दृढ धनुष का खींचना (चिल्ला चढ़ाना,) उन (सब कर्मों) को बाहर और अन्दर सांस लिए बिना पूरा करता है। इस लिए

---

* अध्यात्म और अधिदैवत एक ५ उपासना कहकर अब फिर अध्यात्म उपासना बतलाते हैं। यहां पहले व्यान की दृष्टि से ओम की उपासना कहकर व्यान और ओम में अभेद यह दिखलाया है। कि व्यान सांस के थमने का नाम है। और जब हम वाणी बोलते हैं तो हमारा सांस थम जाता है, और तब वह शब्द के रूप में प्रकट होता है। और जब हम लगातार बोलते हैं, तो बीच २ में सांस को भी अवसर मिलता रहता है, और वह सांस थम २ कर शब्द के रूप में भी बदलता रहता है। इस प्रकार व्यान वाणी है। और वाणी का रस ऋचा, ऋचा का रस साम और साम का रस उद्गीथ (ओम) है। इस प्रकार व्यान और उद्गीथ अभिन्न होने से व्यान की दृष्टि से उद्गीथ की उपासना करे।

† पहले व्यान की उद्गीथ के साथ एकता दिखलाई है। अब व्यान की महिमा दिखलाने के लिए यह सिद्ध करते हैं, कि शरीर में सारे बल साध्य काम इसी की शक्ति से हैं।

चाहिये, कि व्यान की दृष्टि से ही उद्गीथ (ओम) की उपासना करे ॥ ५ ॥

अथ खलूद्गीथाक्षराण्युपासीत, उद्-गी-थ इति । प्राणएवोत्, प्राणेन ह्युत्तिष्ठति । वाग्गीर्, वाचो ह गिर इत्याचक्षते । अन्नं थम्, अन्ने हीदꣳ सर्वं स्थितम् ।६।

मनुष्य को चाहिये कि उद्गीथ के अक्षरों पर ध्यान धरे अर्थात् उद्, गी, थ (पर ध्यान धरे) । उत् प्राण है, क्योंकि प्राण के द्वारा मनुष्य ऊपर उठता है । गी वाणी है, क्योंकि वाणियों को 'गिरः' कहते हैं । थ अन्न है, क्योंकि अन्न के द्वारा यह सब कुछ स्थित है * । ६ ।

द्यौरेवोद्, अन्तरिक्षं गीः, पृथ्वी थम् । आदित्य-एवोद्, वायुर्गीर्, अग्निस्थम्, सामवेद एवोद् यजुर्वेदो-गीर्ऋग्वेदस्थम् । दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं, यो वाचो दोहो ऽन्नवानन्नादो भवति, य एतान्येवं विद्वानुद्गीथक्षरा-ण्युपास्ते, उद्-गी थ इति । ७ ।

उत् द्यौ है, गी अन्तरिक्ष है, थ पृथ्वी है । उत् सूर्य है, गी वायु है, थ अग्नि है । उत् सामवेद है, गी यजुर्वेद है, थ ऋग्वेद † है ।

वह जो इस प्रकार जानता हुआ उद्गीथ के उद्, गी, थ इनतीन अक्षरों पर ध्यान धरता है, उस के लिए वाणी स्वयम्

---

* उत्तिष्ठति से उत्, गिर् से गी, और स्थित से थ लेकर उद्गीथ बना है ।

† स्वामी शंकराचार्य ने इन सारे नामों के भी निर्वचन दिखलाए हैं । द्यौ उत् है क्योंकि वह ऊंचा है अन्तरिक्ष गी है, क्योंकि वह सारे लोकों को निगल लेता है (गिरणात्), पृथ्वी थ है, क्योंकि

दूध बहादेती है जो वाणी का अपना दूध है * । और वह प्रभूत अन्नवाला और अन्न के खाने के योग्य (नीरोग) होता है ॥ ७ ॥

अथ खल्वाशीःसमृद्धिः । उपसरणानीत्युपासीत । येन साम्ना स्तोष्यन् स्यात्, तत सामोपधावेत् ॥८॥

अब (उद्गाता की) प्रार्थनाओं की समृद्धि (फलना फूलना जिस तरह होसके यह बतलाते हैं) । चाहिये कि उपसरणों † पर इस तरह ध्यान लगाए । (उद्गाता को) चाहिये, कि जिस साम से स्तुति करनी हो, उस साम को चिन्तन करे; ॥ ८ ॥

सार प्राणधारियों के रहने का स्थान है । सूर्य उत् है, क्योंकि यह ऊपर है, वायु गी है, क्योंकि यह अग्नि आदिकों को निगल लेता है, अग्नि थ है, क्योंकि यह यज्ञ का स्थान है । सामवेद उत् है, क्योंकि स्वर्ग के तौर पर इसकी स्तुति की गई है, यजुर्वेद गी है, क्योंकि यजु से दी हुई हवि को देवता निगलते हैं, ऋग्वेद थ है, क्योंकि वह साम के मन्त्रों का स्थान है ।

यह उद्गीथ के अक्षरों का विभाग बृह० आर० उप० १ । ३ । २३ में दिखलाया है । वहां उत्=प्राण और गीथा=वाणी ये दो विभाग किये हैं ।

* वाणी का दूध, वेदों के ज्ञान का फल । अथवा इसका यह अर्थ कर सके हैं वाणी इसके लिये दूध देती है, जो वाणी का दोहने वाला है ।

† उपसरण, उपधावन, दौड़कर पास जाना । यहां अभिप्राय मन को जल्दी उधर लगाने से है । अर्थात् उद्गाता जब स्तुति गाना चाहता है, तो पहले उसका मन इन बातों पर दौड़ना चाहिये, अर्थात् वह इन को जल्दी २ से ध्यान में लाए, जिन का आगे २ चिन्तन करना लिखा है । इनका जल्दी २ चिन्तन करनाही उपसरण और उपधावन कहलता है ॥

यस्यामृचि तामृचं, यदार्षेयं तमृषिं, या देवता माभि-ष्टोष्यन् स्यात्, तां देवतामुपधावेत्, ॥ ९ ॥

जिस ऋचा में (वह साम) है, उस ऋचा का चिन्तन करे; जो उस (साम) का ऋषि है, उस ऋषि का चिन्तन करे; जिस देवता को लक्ष्य में रख कर स्तुति करनी है, उस देवता का चिन्तन करे; ॥ ९ ॥

येन छन्दसा स्तोष्यन् स्यात्, तच्छन्द उपधावेत्; येन स्तोमेन स्तोष्यमाणः स्यात्, त ँ स्तोममुप धावेत् ॥ १० ॥

जिस छन्द मे स्तुति करनी है, उस छन्द का चिन्तन करे; जिस स्तोम से उसने अपने लिये * स्तुति करनी है,उस स्तोम का का चिन्तन करे ॥ १० ॥

यां दिशमभिष्टोष्यन् स्यात्, तां दिशमुपधावेत् ॥११॥

आत्मान मन्तत उपसृत्य स्तुवीत कामं ध्यायन्न प्रमत्तः । अभ्याशो ह यदस्मै स कामः समृध्येत, यत्कामः स्तुवीतेति यत्कामः स्तुवीतेति ॥ १२ ॥

जिस दिशा को लक्ष्य में रख कर स्तुति करनी है, उस दिशा का चिन्तन करे † ॥ ११ ॥

---

* 'स्तोष्यमाणः' आत्मनेपद इसलिये है, कि स्तोम का फल उद्गाता को होता है, इस बात के जितलाने के लिये 'अपने लिये' यह अर्थ बढा दिया गया है ॥

† पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, जिधर यह चाहता है, कि उसकी यह कामना पूरी हो ।

अन्त में अपने आपको (उद्गाता अपने नाम गोत्र आदि का) चिन्तन करके अपनी कामना का ध्यान करता हुआ अप्रमत्त होकर (सावधान होकर, अर्थात् न उच्चारण में कोई अशुद्धि करता हुआ, न मन को इधर उधर जाने देता हुआ) स्तुति करे (स्तोम गाए)। तब जल्दी ही उसके लिये वह कामना फले फूलेगी, जिस कामना वाला होकर वह स्तुति करेगा, हां वह जिस कामना वाला होकर स्तुति करेगा ॥ १२ ॥

चौथा खण्ड

ओमित्येतदक्षर मुद्गीथमुपासीत, ओमिति ह्युद्गायति । तस्योपव्याख्यानम् ॥ १ ॥

मनुष्य को चाहिये, कि उद्गीथ के तौरपर ओम् अक्षर की उपासना करे, क्योंकि (उद्गाता) ओम् से आरम्भ करके (उद्गीथ को) गाता है । और यह(आगे)इस (ओम्) का पूरा व्याख्यान है ॥१॥

देवा वै मृत्योर्बिभ्यतस्त्रयीं विद्यां प्राविशन् । ते छन्दोभिरच्छादयन् । यदेभिरच्छादयँ स्, तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् ॥ २ ॥

देवता मृत्यु के भय से, त्रयी विद्या (वेदविद्या) में प्रविष्ट हुए । (त्रयी विद्या में प्रविष्ट होकर) उन्हों ने छन्दों से (पद्यात्मक मन्त्रों मे)अपने आप को ढांप लिया । और जिस लिये उन्हों ने (देवताओं ने) छन्दों से अपने आप को ढांपा, इस लिये इन को छन्द * कहते हैं ॥२॥

तानु तत्र मृत्युर्यथा मत्स्यमुदके परिपश्येदेवं

---

* छन्दस् , छद् (ढांपना) से है ॥

पर्यपश्यद्—ऋचि साम्नि यजुषि । ते नु विद्त्वोर्ध्वा ऋचः साम्नो यजुषः, स्वरमेव प्राविशन् ॥३॥

तब जैसा कि एक मछली पकड़नेवाला पानी के अन्दर मछली को ताड़ लेवे, इस प्रकार उन देवताओं को वहां ऋचा यजु और साम के अन्दर मृत्यु ने ताड़ लिया । और देवता यह जान कर (कि यहां हम मृत्यु से छिप नहीं रहे)ऋचा, यजु और साम से ऊपर चढ़ कर, स्वर (ओम्) में प्रविष्ट हुए (ओम की उपासना की) ॥ ३ ॥

यदा वा ऋचमाप्नोत्योमित्येवातिस्वरति, एवꣳ सामैवंयजुः, एष उ स्वरो, यदेतदक्षर मेतदमृतमभयं, तत् प्रविश्य देवा अमृता अभया अभवन् ॥४॥

जब कोई पुरुष ऋचा (ऋग्वेद) को पा लेता है, (अपने-अधीन करलेता है, पूरा २ जान लेता है)तो वह ओ३म् इस प्रकार (आदर के साथ) लम्बा उच्चारण करता है, इसी प्रकार जब वह साम को पा लेता है, और जब यजु को पा लेता है (तो ओ३म् उच्चारण करता है) । यह ही स्वर है । जो यह अक्षर (अविनाशि) है, अमृत है, अभय है । उसमें प्रवेश करके देवता अमृत और अभय हो गए ॥ ४ ॥

स य एतदेवंविद्वानक्षरं प्रणौति, एतदेवाक्षर ꣳ स्वरममृतमभयं प्रविशति, तत् प्रविश्य यदमृता देवास्, तदमृतो भवति ॥५॥

सो जो यह इस प्रकार जानकर अक्षर ((ओम्) को ऊंचे उच्चारण करता है, वह इसी अक्षर (अविनाशि) स्वर अमृत

अभय में प्रवेश करता है, और इसमें प्रवेश करके जिस अमृत वाले देवता हैं, उसी अमृतवाला होता है (देवताओं के सदृश अमृत होता है) ॥ ५ ॥

पांचवां खण्ड

अथ खलु य उद्गीथः, स प्रणवः, यः प्रणवः स उद्गीथ इति । असौ वा आदित्य उद्गीथः, एष प्रणवः ओमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥१॥

जो उद्गीथ है, वह प्रणव है, जो प्रणव है, वह उद्गीथ है। वह (आकाश में) सूर्य उद्गीथ * है, यह प्रणव है, क्योंकि यह(सूर्य) ओम् उचारता हुआ जाता है ॥१॥

'एतमु एवाहमभ्यगासिषं, तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच। 'रश्मीꣳस्त्वं पर्यावर्तयाद्, बहवो वै ते भविष्यन्ति' इत्यधिदैवतम् ।२।

कौषीतकि ने अपने पुत्र को कहा, कि इसी को मैंने (ओम् से) गाया, इस लिये तू मेरे अकेला (पुत्र)है'। 'अब तू किरणों को घुमा, (बार २ ध्यान लगा) तब तेरे बहुत (पुत्र) होंगे'। यह अधिदैवत है, (देवताओं के सम्बन्ध में है) ॥२॥

अथाऽध्यात्मम् । य एवायं मुख्यः प्राणः, तमुद्गीथ मुपासीत । ओमिति ह्येष स्वरन्नेति ॥ ३ ॥

अब शरीर के सम्बन्ध में कहते हैं। चाहिये कि यह जो मुख में प्राण है, उसको उद्गीथ के तौर पर उपासे, क्योंकि यह ओम् उचारता हुआ चलता * है ॥ ३ ॥

* देखो छान्दो० उप १ । ३ । १

* जो मुख में प्राण है, वह ओम् कहता हुआ चलता है, इस

एतमु एवाहमभ्यगासिषं, तस्मान्मम त्वमेकोऽसीति' ह कौषीतकिः पुत्रमुवाच'प्राणᳬस्त्वं भूमानमभिगायताद, बहवो वै मे भविष्यन्ति' ॥४॥

कौषीतकि ने अपने पुत्र को कहा, कि ' इसी (प्राण) को मैंने (ओम् से) गाया, इस लिये तू मेरे अकेला पुत्र है. अब तू यदि चाहता है, कि मेरे बहुत पुत्र हों, तो प्राण को भूमा (बहुत गुना) जानकर (ओम् से) गा ॥४॥

अथ खलु य उद्गीथः; स प्रणवः; यः प्रणवः, स उद्गीथ इति होतृषदनाद्धैवापि दुरुद्गीत मनुसमाहरतीत्यनुसमाहरतीति ॥५॥

जो यह जानता है कि जो उद्गीथ है, वह प्रणव है, जो प्रणव है, वह उद्गीथ है, वह होतृषदन (होता के बैठने की जगह) से ही गाने की अशुद्धि को ठीक कर देता है, हां ठीक कर देता है ॥५॥

भाष्य—ऋग्वेदी प्रायः प्रणव बोलते हैं,और सामवेदी उद्गीथ । यह दोनों नाम ओम् की जगह बोले जाते हैं । इस खण्ड में इन दोनों की एकता दिखलाकर अन्त में यह सिद्ध किया है, कि प्रणव और उद्गीथ एक ही है, इस लिये यदि उद्गाता से उद्गीथ के गाने में कोई त्रुटि होजाए,तो होता प्रणव के उच्चारण में उस त्रुटि को पूरा कर

का यह अभिप्राय है कि पांचों इन्द्रियों को काम करने की अनुज्ञा देता हुआ चलता है, इसी तरह'सूर्य' ओम् कहता हुआ,से यह अभिप्राय है, कि सब प्राणधारियों को चलने फिरने की अनुज्ञा देता हुआ (ओम्=अनुज्ञा -देखो पूर्व १ । ८)

देता है, क्योंकि जो उद्गीथ है, वही प्रणव है और जो प्रणव है वही उद्गीथ है । कौषीतकि के उपदेश मे भी उद्गीथ और प्रणव की एकता दिखलाई है । कौषीतकि ऋग्वेद का आचार्य है, उसने प्रणव मे अधिदैवत में सूर्य और अध्यात्म में प्राण को गाया है और इन्हीं दोनों को सामवेदी उद्गीथ से गाते हैं । इसलिये प्रणव और उद्गीथ एक ही है ।

छठा खण्ड *

इयमेवर्गग्निः साम । तदेतस्यामृच्यध्यूढ ँ साम । तस्मादृच्यध्यूढ ँ साम गीयते । इयमेवसा, ऽग्निरमस्तत्साम ॥१॥

* ऋचा पृथिवी है, साम अग्नि है । यह साम (अग्नि) इस ऋचा (पृथिवी) के सहारे है, (निर्भर रखता है) । इस लिये साम ऋचा के सहारे गाया जाता है । सा पृथिवी है, अम अग्नि है, यह साम है (यह दोनों सा+अम=साम है) ॥ १ ॥

अन्तरिक्षमेवर्ग्वायुः साम । तदेतस्या मृच्यध्यूढ ँ साम । तस्मादृच्यध्यूढ ँ साम गीयते । अन्तरिक्षमेव सा वायु रमस्तत्साम ॥ २ ॥

ऋचा अन्तरिक्ष है, साम वायु है । यह साम (वायु) इस ऋचा (अन्तरिक्ष) के सहारे है । इस लिये साम ऋचा के सहारे गाया जाता है । सा अन्तरिक्ष है और अम वायु है यह साम है ॥२॥

द्यौरेवर्गादित्यः साम । तदेतस्यामृच्यध्यूढ ँ

---

* ६, ७ इन दो खण्डों का विषय एक है । दोनों को इकट्ठा देखो और अन्त की व्याख्या पर पूरा ध्यान दो ।

साम । तस्मादृच्यध्यूढ ँ॒ साम गीयते । द्यौरेव साऽऽदित्यो ऽमस्तत्साम ॥ ३ ॥

ऋचा द्यौ है, साम सूर्य है। यह साम (सूर्य) इस ऋचा (द्यौ) के सहारे है। इस लिये साम ऋचा के सहारे गाया जाता है। सा द्यौ है, अम सूर्य है, यह साम है ॥ ३ ॥

नक्षत्राण्येवर्क् चन्द्रमाः साम । तदेतस्यामृच्यध्यूढ ँ॒ साम । तस्मादृच्यध्यूढ ँ॒ साम गीयते । नक्षत्राण्येव सा चन्द्रमा अमस्तत्साम ॥ ४ ॥

ऋचा नक्षत्र हैं, साम चन्द्रमा है। यह साम (चन्द्रमा) इस ऋचा (नक्षत्रों) के सहारे है। इसलिये साम ऋचा के सहारे गाया जाता है। सा नक्षत्र हैं, अम चन्द्रमा है। यह साम है ॥ ४ ॥

अथ यदेतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैवर्गथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम । तदेतस्यामृच्यध्यूढ ँ॒ साम । तस्मादृच्यध्यूढ ँ॒ साम गीयते । ५ ।

अब यह जो सूर्य की श्वेत दीप्ति (चमक) है, वह ऋचा है, और जो (सूर्य में) नीला—अत्यन्त कालापन * है यह साम है। यह साम (कालापन) ऋचा (श्वेतचमक) के सहारे है। इस लिये ऋचा के सहारे साम गाया जाता है ॥ ५ ॥

अथ यदेवैतदादित्यस्य शुक्लं भाः सैव साऽथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्साम ।

* यह अत्यन्त कालापन उनको दीखता है, जो सूर्य के अन्दर दृष्टि जमा सके हैं ।

अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात् सर्व एव सुवर्णः।६।

मा सूर्य की श्वेतदीप्ति है, अम नीला—अत्यन्त कालापन है। यह साम है।

अब यह सुनहरी पुरुष (सुवर्ण की तरह चमकता पुरुष) जो सूर्य के अन्दर दीखता है, जिसकी सुनहरी दाढ़ी और सुनहरी बाल हैं, नखों के अग्र तक जो सारा ही सुवर्णमय है ॥ ६ ॥

तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी। तस्योदितिनाम। स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः। उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो, य एवं वेद।७।

उसकी आंखें कप्यास[1] कमल की नाईं हैं, उसका नाम उत् है। क्योंकि वह सारे पापों से ऊपर चढ़ा हुआ है[2]। वह जो यह जानता है, सारे पापों से ऊपर चढ़ जाता है ॥ ७ ॥

तस्यर्क्च साम च गेष्णौ, तस्मादुद्गीथः। तस्मात्त्वेवोद्गातैतस्य हि गाता। स एष ये चामुष्मात् पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां च। इत्यधिदैवतम्।८।

---

[1] कप्यास=कपि+आस, बन्दर की बैठने की जगह, अर्थात् बन्दर का पुच्छ भाग जैसे बड़ा लाल होता है, उसकी तरह जो लाल कमल है, वैसे लाल उसके नेत्र हैं, ताज़ह खिले हुए लाल कमल के तुल्य उसके नेत्र हैं, अर्थात् बड़े तेजस्वी हैं; शंकराचार्य, पर यह अर्थ बनाया हुआ प्रतीत होता है। यह शब्द अन्यत्र कहीं देखा नहीं गया, इस लिये अर्थ का निर्धारण करना कठिन है।

[2] उदितः से उत् निकला है।

ऋचा और साम उसके जोड़ * हैं, इस लिये (उद्गीथ) उद्गीथ है। और इसी लिये (उद्गाता) उद्गाता † है, क्योंकि वह इस (पुरुष) का गाने वाला है। (सूर्य के अन्दर जो पुरुष है, जिसका नाम उत् है) उन सारे लोकों का मालिक है, जो उस (सूर्य) से परे हैं, और देवताओं की सारी कामनाओं का मालिक है। यह अधिदैवत है (देवताओं के सम्बन्ध में है) ‡ ॥ ८ ॥

सातवां खण्ड

अथाध्यात्मम् । वागेवर्क्, प्राणः साम । तदेतस्यामृच्यध्यूढ ँ साम । तस्मादृच्यध्यूढ ँ साम गीयते । वागेव सा प्राणोऽमस्तत्साम ॥ १ ॥

---

* उद्+गेष्णौ=उद् के जोड़, से उद्गीथ बना है।

† उद्+गाता=उद्गाता,उद् का गाने वाला।

‡ साममन्त्र सामके अपने नियत स्वरसे गाए जाते हैं,इतने से ही वह साम कहलाते हैं, वस्तुतः वह सब ऋचा ही हैं। यह ऋचाएं लगभग सारी ऋग्वेद में पाईजाती हैं. और जो ऋग्वेदमें नहीं पाईजातीं। वह भी ऋचाही हैं, क्योंकि उनमें ऋचा का लक्षण पाया जाताहै। इसी लिए सामका वह भाग आर्चिक कहलाता है,जिसमें इन ऋचाओं का संग्रहहै। इसलिए यहां बार२कहा है, कि सामऋचा के सहारे है।

अब यहां आरम्भ से उद्गीथ का वर्णन है और उद्गीथ साम का भाग है और साम ऋचाके सहारे है। इसलिये यहां पहले ऋचा और साम के भिन्न२ अर्थ दिखलाकर अन्तमें यह दिखलाया है किआदित्यमें उपास्य पुरुष का नाम उद् है। और यह ऋचा और साम उसके 'गेष्ण' जोड़हैं। इसलिये वह उद्गीथ है अर्थात् उद्+गेष्ण से उद्गीथ बना है। उद्गीथ जो सामका भागहै, उसके जोड़भी ऋचा और सामहैं। और उद्गीथ जो आदित्यस्थ पुरुष है, उस के जोड़ पृथिवी आदि ऋचा) और अग्नि आदि (साम) हैं। और उद्गाता को उद्गाता इसलिए कहतेहैं, कि वह उद् का गानेवालाहै अर्थात् उद्+गाता=उद्गाताहै।

अब अध्यात्म (शरीर के सम्बन्ध में) कहते हैं। ऋचा वाणी है, साम प्राण * है। यह साम (वाणी) इस ऋचा (प्राण) के सहारे है। इसलिये साम ऋचा के सहारे गाया जाता है। सा वाणी है, अम प्राण है, यह साम है, (दोनों मिल कर साम बनाते हैं, सा+अम=साम) ॥ १ ॥

चक्षुरेवर्गात्मा साम। तदेतस्यामृच्यध्यूढ ँ साम। तस्मादृच्यध्यूढ ँ साम गीयते। चक्षुरेव साऽऽत्माऽम स्तत्साम ॥ २ ॥

ऋचा आंख है, साम आत्मा (छायात्मा) है। यह साम (छाया) इस ऋचा (आंख) के सहारे है। इसलिये साम ऋचा के सहारे गाया जाता है। सा आंख है, अम आत्मा है। यह साम है ॥ २ ॥

श्रोत्रमेवर्ङ्, मनः साम तदेतस्यामृच्यध्यूढ ँ साम। तस्मादृच्यध्यूढ ँ साम गीयते। श्रोत्रमेव सा मनो-ऽम स्तत्साम ॥ ३ ॥

ऋचा श्रोत्र है, साम मन है। यह साम (मन) इस ऋचा (श्रोत्र) के सहारे है। इसलिये साम ऋचा के सहारे गाया जाता है, सा श्रोत्र है, अम मन है, यह साम है ॥ ३ ॥

अथ यदेतदक्ष्णः शुक्लं भाः सैवर्, अथ यन्नीलं परः कृष्णं तत्साम। तदेतस्यामृच्यध्यूढ ँ साम। तस्मादृच्यध्यूढ ँ साम गीयते। अथ यदेवैतदक्ष्णः शुक्लं,

* जो नासिका में प्राण है अर्थात् घ्राण (शंकराचार्य)।

भाः सैव साऽथ यन्नीलं परः कृष्णं तदमस्तत्साम ॥४॥

अब यह जो आंख की श्वेत दीप्ति (चमक) है, यह ऋचा है, और जो यह नीला—अत्यन्त कालापन है यह साम है, यह साम [कालापन] इस ऋचा [श्वेतता] के सहारे है। इसलिए साम ऋचा के सहारे गाया जाता है। सा आंख की श्वेत चमक है, अम नीला—अत्यन्त कालापन है, यह साम है ॥ ४ ॥

अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते, सैवर्क् तत्साम, तदुक्थं, तद्यजुः, तद्ब्रह्म। तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं, यावमुष्य गेष्णौ तौ गेष्णौ, यन्नाम तन्नाम ॥ ५ ॥

अब यह जो आंख के अन्दर पुरुष दीखता है, वह ऋचा है वह साम है, वह उक्थ * है, वह यजु है, वह ब्रह्म है [यह जो आंख में पुरुष है] इसका वही रूप है, जो उस [आदित्यस्थ पुरुष] का रूप † है, जो [ऋक और साम] [आदित्यस्थ पुरुष] के जोड़ हैं, वह इसके जोड़ हैं, जो उसका नाम [उत्] है, वह इस का नाम है ॥ ५ ॥

स एष ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे, मनुष्य कामानाञ्चेति। तद् य इमे वीणायां गायन्त्येतं ते गायन्ति, तस्मात् ते धनसनयः ॥ ६ ॥

यह [जो आंख में पुरुष है] उन लोकों का मालिक है, जो

---

* ऋचाओं का समुदाय शस्त्र, और साममन्त्रों का समुदाय स्तोत्र है। उक्थ एक शस्त्र विशेष है ॥

† देखो छान्दो० उप० १। ६। ६।

इस से नीचे हैं, और मनुष्य की सारी कामनाओं का मालिक है। सो ये जो वीणा में गाते हैं, इसी को गाते हैं, और इसलिए वह धन लाभ करते हैं ॥ ६ ॥

अथ य एतदेवं विद्वान् साम गायति, उभौ स गायति, सोऽमुनैव, स एष ये चामुष्मात् पराञ्चो लोकास्ता ᳪ श्चाप्नोति देवकामा ᳪ श्च ॥ ७ ॥

वह जो इस [रहस्य] को इस प्रकार जानता हुआ साम गाता है, वह दोनों को [अधिदैवत और अध्यात्म आत्मा को जो आदित्य में पुरुष है, और जो आक्षि में पुरुष है, वस्तुतः जो दोनों एक है] गाता है। वह उस [आदित्यस्थ पुरुष] के द्वारा उस [सूर्य] से परले लोकों को और देवताओं की कामनाओं को पालेता है ॥ ७ ॥

अथानेनैव, ये चैतस्मादर्वाञ्चो लोकास्ता ᳪ श्चाप्नोति, मनुष्यकामा ᳪ श्च। तस्मादुहैवंविदुद्गाता ब्रूयात् ॥ ८ ॥

और वह इस [अक्षिस्थपुरुष] के द्वारा, जो इस से निचले लोक हैं, उनको और मनुष्य की कामनाओं को पालेता है ॥

इस लिए वह उद्गाता जो इस प्रकार जानता है [उपासता है] वह [यजमान को] कह सक्ता है ॥ ८ ॥

कं ते काममागायानीति, एष ह्येव कामगानस्येष्टे, य एतदेवं विद्वान् साम गायति, साम गायति ९

क्या कामना तेरे लिए गाऊं (गाकर पूरी करूं) क्योंकि

वह जो चाहे गाकर उसके पूरा करने के समर्थ होता है, जो यह इसप्रकार जानता हुआ साम गाता है, साम गाता है ॥ ९ ॥

भाष्य–यहां यह विचार उत्पन्न होता है कि यह जो आदित्य और अक्षि में उपास्य पुरुष है, यह कौन है ? उत्तर यह है, कि वह नित्यसिद्ध परमेश्वर है । उसी की उपासना यहां भी और अन्यत्र भी सर्वत्र दिखलाई है ॥

(प्रश्न) यहां उपासना ईश्वर की नहीं, किसी और देवता की होसक्ती है, और उसके हेतु यह हैं—

(१) यहां उपास्य दो हैं, एक वह पुरुष जो आदित्य के अन्दर है, और दूसरा वह जो आंख के अन्दर है, सो यहां दो उपास्य हैं, पर ईश्वर दो नहीं हैं ॥

(२) दोनों का ऐश्वर्य मर्यादा (हद) वाला है, 'यह (आदित्यस्थ पुरुष) उन लोकों का मालिक है, जो सूर्य से परे हैं, और देवताओं की सारी कामनाओं का मालिक है', यह आदित्य में स्थित पुरुष के ऐश्वर्य की मर्यादा है । और 'यह उन लोकों का मालिक है, जो इस से नीचे हैं और मनुष्य की सारी कामनाओं का मालिक है, यह आंख में स्थित पुरुष के ऐश्वर्य की मर्यादा है', पर परमेश्वर के ऐश्वर्य की कोई हद नहीं वह सबका ईश्वर है (देखो बृह० आर० उप ४ । ४।२२)

(३) यहां जो यह सूर्य के अन्दर पुरुष है, और जो यह आंख के अन्दर पुरुष है, इन वचनों से दोनों को अलग २ आधार बतलाया है । पर निराधार सर्वव्यापी परमेश्वर का कोई आधार नहीं बन सक्ता (देखो छान्दो० उप० ७ । २ । ४ । १) ॥

(४) यहां दोनों का रूप दिखलाया है 'सुनहरी दाढ़ीवाला' इत्यादि आदित्यस्थ पुरुष का रूप है. और अक्षिस्थ पुरुष का भी यही रूप कहा है, 'इसका वही रूप है, जो उसका रूप है' इस वचन से । पर परमेश्वर का कोई रूप नहीं। इसलिए यहां सूर्य और आंखके अन्दर जो उपास्य पुरुष बतलाया है, वह परमेश्वर नहीं है ॥

(उत्तर) यह वर्णन केवल एक परमेश्वर का ही है, क्योंकि यहां जो धर्म बतलाए हैं, वह केवल उसी में घट सके हैं, किसी दूसरे में नहीं ॥

(१) आदित्यस्थ पुरुष का नाम उत् कह कर उसका निर्वचन यह किया है, 'क्योंकि वह सारे पापों से ऊपर चढ़ा हुआ है' और यही नाम फिर अक्षिस्थ पुरुष का बतलाया है. कि 'जो उसका नाम है. वही इसका नाम है', अब सारे पापों की पहुंच से परे होना यह केवल परमात्मा में ही बन सक्ता है ॥

[२] अक्षिस्थ पुरुष के विषय में यह कहा है, कि 'वह ऋचा है,वह साम है, वह उक्थ है, वह यजु है, वह ब्रह्म है' [७ । ५ ।] यह बात केवल परमेश्वर में ही घट सक्ती है, क्योंकि सारे वेद उसीको बतलाते हैं, 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति [कठ० उप० २।१५] और 'इसीको ही ऋग्वेदी बड़े उक्थ में विचारते हैं,इसीको यजुर्वेदी अग्नि में उपासते हैं, इसी को सामवेदी महाव्रत में उपासते हैं ॥ [ऐत० आ० ३ । २ । ३ । १२] ॥

[प्रश्न] यह तुम्हारा हेतु तब बन सक्ता, यदि यह कहा होता, कि ऋचा उसको बतलाती हैं, साम उसको बतलाते हैं, इत्यादि । पर यहां तो यह कहा है. कि वह ऋचा है, वह साम है, इत्यादि ॥

[उत्तर] ऋचा, साम, उक्थ आदि उसकी प्राप्ति के पूरे २ साधन हैं, और असंदिग्ध साधन हैं, इसलिये यहां ऋचा उसी को बोधन करती हैं, यह न कह 'वह ऋचा है, ऐसा कहा है ।

जिस साधन पर पूरा भरोसा हो,उसको साधन के तौर पर न कह कर साध्य के साथ एक बना देते हैं। जैसाकि वरुण ने भृगु को कहा है 'तप से ब्रह्म के जानने की इच्छा कर. तप ब्रह्म है'. इसी तरह यह और वचन है. [अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः] अन्न प्राणधारियों के प्राण हैं। सो यहां भी ऋचा आदि उसके सच्चे और पूरे साधन हैं, इसलिये कहा है कि वह ऋचा है, वह साम है, इत्यादि। इसलिये यह हेतु ठीक है ॥

[३] यहां अधिदैवत में यह पांच ऋचा कहीं हैं, पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, नक्षत्र, और सूर्य की श्वेत दीप्ति। और यह पांच साम कहे हैं, अग्नि, वायु, सूर्य, इन्द्र और सूर्य का अति कृष्ण रूप। यह कह कर बतलाया है, कि ऋचा और साम उसके जोड़ हैं, अर्थात् पृथिवी आदि पांच जो ऋचा हैं. और अग्नि आदि पांच जो साम हैं, यह उसके जोड़ हैं। इसी तरह अध्यात्म में ये चार ऋचा कही हैं, वाणी, नेत्र, श्रोत्र, और आंख की श्वेत दीप्ति और ये चार साम कहे हैं, प्राण, छायात्मा, मन और आंख का अति कृष्ण रूप। यह कह कर बतलाया है, कि जो उसके जोड़ हैं, वह इस के जोड़ हैं, अर्थात् वाणी आदि चार ऋचा और प्राण आदि चार साम ये इसके जोड़ हैं। सो ऐसा पुरुष जो सारे परिपूर्ण है, सब का अन्तरात्मा है. सब कुछ जिस का शरीर है, वह परमेश्वर ही हो सक्ता है, दूसरा नहीं ॥

[४] सारे लोकों का और कामनाओं का मालिक होना यह भी ठीक २ रूप में परमेश्वर में ही बन सक्ता है, इत्यादि स्पष्ट हेतुओं से यह वर्णन परमेश्वर का ही बन सक्ता है, किसी दूसरे का नहीं। और जो विरुद्ध हेतु तुमने दिखलाए हैं, उनका उत्तर यह है कि यहां व्यष्टिरूप में ब्रह्म की उपासना है, ब्रह्म की वह महिमा जो

सूर्य द्वारा प्रकट होती है, उस महिमा को दिखलाते हुए सूर्य में उसकी उपासना बतलाई है, और जो महिमा आंख द्वारा प्रकट होती है, उस महिमा को दिखलाते हुए आंख में इसकी उपासना बतलाई है। इस लिये—

(१) यहां दो उपास्य नहीं, किन्तु एक ही उपास्य दो भिन्न २ दिव्य शक्तियों के अन्दर उपास्य बतलाया है।

(२) ऐश्वर्य की मर्यादा भी उपासना के लिये उसके व्यष्टिरूप को लेकर बतलाई गई है।

(३) व्यष्टिरूप में उपासने के लिये ही दो भिन्न २ आधार बतलाए हैं, यह उसके स्वरूप के आधार नहीं, किन्तु उपासना के आधार हैं, वह स्वरूप से निराधार ही है।

(४) यह पुरुष सूर्य का अन्तरात्मा है, और सूर्य उसका शरीर है, सूर्य सारा तेजोमय है, इस लिये उस पुरुष के सारे अंग सुनहरी [सोने की नाई चमकते हुए तेजोमय] वर्णन किये हैं। और यह उस सूर्य का अधिष्ठाता मानकर पुरुष विशेष के रूप से वर्णन किया है। ऐसा वर्णन कविता का एक गुण है, इससे उसका वस्तुतः कोई रूप सिद्ध नहीं होता *।

इस लिये स्थानभेद से यहां एक ही परमेश्वर की उपासना अभिप्रेत है, स्थानभेद से उपास्य के भेद की शंका, दोनों का एक ही रूप और एक ही नाम बतलाने से पूरी तरह मिटा दी है।

---

* यहां हमने संक्षेप से लिखा है। व्यष्टि और समष्टि का विषय वेदोपदेश में सविस्तर लिखा है। यहां वेदोपदेश, केन की भूमिका, और तैत्तिरीय के पहले अनुवाक की व्याख्या को पूरी तरह एक बार ध्यान देकर पढ़लो। तब इस विषय पर बहुत अधिक प्रकाश पड़ेगा और आगे भी यह बहुत उपयोगी होगा। यहां व्यष्टि उपासना बहुत हैं, उनका रहस्य तभी समझ में आएगा।

उद्गाता जब उद्गीथ गाता है, तो वह यजमान के लिये वर मांगता है। पर वर मांगना कोई खेल की बात नहीं, और वह भी दूसरे के लिये। खाली कह देने मे कुछ नहीं बनता, पहले अपने आप को इस योग्य बनाओ, कि तुम जो कुछ चाहते हो, उसका पूरा होना अटल हो। यह सामर्थ्य तुम्हारे अन्दर तुम्हारे उस प्रेमभाव से आएगा, कि जो सारी कामनाओं का मालिक है; यदि उसके साथ एक होजाओगे। इस लिये यह उपनिषद् बतलाती है, कि उद्गाता को पहले उपासक बनना चाहिये उस अधिपति का, जो देवलोकों का और देवताओं की कामनाओं का मालिक है। और उसका, जो मनुष्यलोकों का और मनुष्यों की कामनाओं का मालिक है। जो उद्गाता उस अधिपति के प्रेम में रत है, और उद्गीथ गाते समय इसी को गाता है, वह उद्गाता यजमान को कहने के योग्य होता है, कहो तेरे लिये क्या कामना गाऊं। क्योंकि वह जिस परमात्मा के गीत गाता है, वह उसकी बात को सुनता है।

आठवां खण्ड *

त्रयो होद्गीथे कुशला बभूवुः, शिलकः शालावत्य-श्चैकितायनो दाल्भ्यः प्रवाहणो जैवलिरिति। ते होचुः 'उद्गीथे वै कुशलाःस्मो, हन्तोद्गीथे कथां वदाम' इति।१

एक बार तीन पुरुष जो उद्गीथ † में निपुण थे, शिलक शालावत्य (शलावत का पुत्र) चैकितायन, दाल्भ्य ‡ और प्रवाहण

---

* इन दोनों खण्डों का उद्देश्य भी एक ही है। यहां एक दूसरे ही प्रकार से उद्गीथ (ओम्) की उपासना बतलाई है, जिसका फल बड़े से बड़े लोक और उच्च से उच्च जीवन लाभ करना है।

† उद्गीथ (ओम्) के रहस्यार्थ जानने में।

‡ चिकितायन का पुत्र और दल्भ्य गोत्री।

जैवलि (जीवल का पुत्र) उन्हों ने कहा, 'हम उद्गीथ में निपुण हैं, आओ हम उद्गीथ के विषय में विचार करें, ॥ १ ॥

तथेति ह समुपविविशुः । स ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच 'भगवन्तावग्रे वदतां ब्राह्मणयोर्वदतोर्वाचं श्रोष्यामीति' ॥ २ ॥

'बहुत अच्छा' यह कह कर वह इकट्ठे बैठ गए । तब प्रवाहण जैवलि बोले, 'हे भगवन्तो ! आप दोनों पहले विचार करें, आप दोनों ब्राह्मणोंके विचारमें मैं आपकी वाणीसुनना चाहता हूं, * ।२।

स ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाच 'हन्त त्वा पृच्छानीति' 'पृच्छेति' होवाच ॥ ३ ॥

तब शिलक शालावत्य ने चैकितायन दाल्भ्य से कहा, यदि अनुज्ञा हो तो पूछूं ॥

उसने कहा 'हां पूछो' ॥ ३ ॥

'का साम्नो गति रिति' 'स्वर' इति होवाच । 'स्वरस्य का गतिरिति' 'प्राण' इति होवाच । 'प्राणस्य का गतिरिति' 'आप' इति होवाच ॥ ४ ॥

'साम † का आश्रय कौन है' उसने उत्तर दिया 'स्वर' ।

---

* प्रवाहण जैवलि क्षत्रिय राजा है (देखो छान्दो० उप ।५। ३) और वह ब्रह्मविद्या में एक बड़ा प्रगल्भ विद्वान् हैं, जो ब्राह्मणों से आगे बढ़ा हुआ है । यहां भी उसने अपनी वारी में उद्गीथ(ओम) का जो असली अर्थ है वह प्रकट किया है, अर्थात् परब्रह्म ।

† यहां साम से अभिप्राय उद्गीथ है, क्योंकि उद्गीथकाप्रकरण है और आगे भी (९। में) कहा है कि 'उद्गीथमुपासते' (शंकराचार्य)

'स्वर का आश्रय कौन है ? उसने उत्तर दिया 'प्राण' ॥
प्राण का आश्रय कौन है' ? उसने उत्तर दिया 'अन्न'
'अन्न का आश्रय कौन है' ? उसने उत्तर दिया 'जल' ॥४॥

'अपां का गतिरिति' 'असौ लोक' इति होवाच । 'अमुष्य लोकस्य का गतिरिति' । 'न स्वर्गं लोकमति नयेदिति' होवाच । 'स्वर्गं वयं लोक ७ सामाभिस ँ स्थापयामः, स्वर्गस ँ स्ताव ँ हि सामेति' ॥५॥

जलका आश्रय कौन है? उसने उत्तर दिया 'वह (द्यौ) लोक *।'॥
'उस लोक का आश्रय कौन है' ?
उसने उत्तर दिया (सामको) स्वर्गलोक से आगे नहीं लेजाना चाहिए।
हम स्वर्गलोक को साम ठहराते हैं, क्योंकि साम स्वर्ग के तौर पर स्तुति किया गया है †' ॥ ५ ॥

त ँ ह शिलकः शालावत्यश्चैकितायनं दाल्भ्यमुवाच 'अप्रतिष्ठितं वै किल ते दाल्भ्य साम, यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति, मूर्धा ते विपतेदिति' ।६।

तब शिलक शालावत्य ने चैकितायन दाल्भ्य से कहा, 'हे दाल्भ्य ! तेरा साम प्रतिष्ठा (दृढ़ स्थिति) वाला नहीं है । और यदि कोई (साम की प्रतिष्ठा का जाननेवाला) इस समय (जब तुम भ्रान्ति से बिना दृढ़स्थिति के सामको ठहरा रहे हो) कहे

---

* ऋचाही स्वर विशेष के आश्रय साम कहलाती हैं, स्वरप्राण से बनताहै, प्राणअन्न से, अन्न जल सेउत्पन्नहोता है जलद्यौसेआताहै॥

† क्योंकि 'स्वर्गोवैलोको सामवेदः' सामवेद स्वर्गलोक है, इस श्रुति में सामवेद की स्वर्गलोक के रूप से स्तुति की है, [शंकराचार्य]

कि तेरा सिर गिर जाएगा, तो तेरा सिर अवश्य गिर जाए' ।६।

'अच्छा (दाल्भ्य ने कहा) तब, हे भगवन् अनुज्ञा हो, मैं आप से समझ लूं'। उसने (शिलकशालावत्य ने) कहा, 'हां समझो ॥

'हन्ताहमेतद् भगवत्तो वेदानीति 'विद्धीति' हो अयंलोक इति होवाच । अस्य लोकस्य का गति रिति। न प्रतिष्ठां लोकमतिनयेदिति' होवाच 'प्रतिष्ठां वयं लोकं सामाभिसंस्थापयामः, प्रतिष्ठा संस्तावं हि सामेति, ७

(उसने पूछा) उस (स्वर्ग) लोकका आश्रय कौन है' ?

उसने उत्तर दिया 'यह लोक (पृथिवी)' *

और इस लोकका आश्रय कौन है' ?

उसने उत्तर दिया '(सामको) प्रतिष्ठालोक (पृथ्वीलोक) से आगे नहीं लेजाना चाहिए। हम सामको प्रतिष्ठालोकमें ठहराते हैं, क्योंकि सामकी प्रतिष्ठा के तौर पर स्तुति की गई है †' ॥७॥

तं ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच 'अन्तवद्वै किल ते शालावत्य साम, यस्त्वेतर्हि ब्रूयान्मूर्धा ते विपतिष्यतीति, मूर्धा ते विपतेदिति' । हन्ताहमेतद् भगवत्तो वेदानीति' 'विद्धीति' होवाच ॥ ८ ॥

तब प्रवाहण जैवलि ने इस (शिलक शालावत्य) से कहा,

---

* सब भूतोंकी प्रतिष्ठा पृथ्वी है और स्वर्गलोककी भी प्रतिष्ठा है। अग्नि में किये याग होमादि द्यौलोक को पुष्टि देते हैं॥

† 'इयं वै रथन्तरम्' यहां रथन्तर सामकी पृथ्वीकेरूप में स्तुति की गई है [शंकराचार्य]

हे शालावत्य ! तेरा साम (पृथ्वी) अन्तवाला है *। और यदि कोई इस समय कहे कि तेरा 'सिर गिर जाएगा, तो तेरा सिर अवश्य गिरजाए' ॥

(शिलक शालावत्य ने कहा)'अच्छा, तब हे भगवन् अनुज्ञा हो मैं आपसे समझ लूं ॥

उसने कहा 'हां समझो' ॥ ८ ॥

नवां खण्ड

'अस्य लोकस्य कागतिरिति' 'आकाश' इति होवाच । 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते, आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति । आकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायान्, आकाशः परायणम्' ॥ १ ॥

[शालावत्य ने पूछा] 'इस [पृथिवी] लोक का आश्रय कौन है, ? उसने कहा ' आकाश ' क्योंकि ये सारे भूत आकाश से उत्पन्न होते हैं, और आकाश में लीन होते हैं । क्योंकि आकाश इन सबमें बड़ा है, आकाश [इन सबका] परम आश्रय है । १ ।

स एष परोवरीयानुद्गीथः स एषोऽनन्तः । परोवरीयो हास्य भवति ? परोवरीयसो ह लोकान् जयति यएतदेवं विद्वान परोवरीया ᳪ समुद्गीथमुपास्ते ॥ २ ॥

---

* स्वर्गलोककी प्रतिष्ठा पृथ्वीलोक पर है, इस लिये शालावत्य ने दाल्भ्य को कहा कि तेरा साम प्रतिष्ठावाला नहीं । यह कहकर उसने पृथ्वीलोक को साम ठहराया । अब जैवलि शालावत्य को कहते हैं, कि तुम जिसको साम ठहराते हो, यह यद्यपि प्रतिष्ठा है, तथापि अन्तवाला है, इसलिए यह भी सामका असली अर्थ नहीं ॥

यह बड़े से बड़ा उद्गीथ [ओम्=ब्रह्म] है, यह बिना अन्त के है। वह जो इस प्रकार जानकर इस बड़े से बड़े उद्गीथ को उपासता है, वह उसको पा लेता है, जो बड़े से बड़ा है, और उन लोकों को जीत लेता है जो बड़े से बड़े हैं। २।

तꣳहैतमतिधन्वा शौनक उदरशाण्डिल्यायोक्त्वोवाच 'यावत् त एनं प्रजायामुदगीथं वेदिष्यन्ते,परोवरीयो हैभ्यस्तावदस्मिँल्लोके जीवनं भविष्यति ।३।

अतिधन्वा शौनक [शुनक के पुत्र] ने [अपने शिष्य] उदरशाण्डिल्य को यह उद्गीथ बतलाकर कहा था, कि 'जब तक तेरे वंश में इस उद्गीथ को जानेंगे, तब तक उनका इस लोक में बड़े से बड़ा जीवन होगा' । ३ ।

तथाऽमुष्मिँल्लोकेलोक इति, स य एतमेवं विद्वानुपास्ते, परोवरीय एव हास्मिँल्लोके जीवनं भवति तथाऽमुष्मिँल्लोके लोक इति लोके लोक इति ॥ ४ ॥

'और उस [स्वर्ग] लोक में लोक होगा'

वह जो इस प्रकार उद्गीथ को जानता है, और उसको उपासता है, उसका इस लोक में जीवन निःसंदेह बड़े से बड़ा होता है, और उस लोक में लोक होता है, हां [उस] लोक में लोक होता है।४।

भाष्य—दाल्भ्य,और शालावत्य,ब्राह्मण और जैवलि राजा,ये तीनों जो उद्गीथविद्या में कुशल थे, इन्होंने विचार किया, कि उद्गीथ का परम आश्रय कौन है ? उन में से दाल्भ्य का पक्ष यह था कि स्वर्ग लोक से आए हुए जलों से प्राण को जीवन मिलता है, और प्राण से उद्गीथ गाया जाता है, इस लिये उद्गीथ का परम आश्रय

स्वर्गलोक है। इस पक्ष में अप्रतिष्ठा का दोष दिखलाकर शालावत्य ने यह सिद्ध किया, कि यह लोक कर्म द्वारा स्वर्ग का भी हेतु है इस लिये साम का परम आश्रय यह प्रतिष्ठा लोक है। जैवालि ने इसमे अन्तवाला होनेका दोष दिखलाकर आकाश को साम का परम आश्रय बतलाया है। आकाश यहां परमब्रह्म का नाम है, अथवा भूताकाश के अन्तर्यामी के तौर पर उसे आकाश कहा है (देखो वेदान्त० १। १। २२)

यहां साम के मूल का पता खोजते हुए आगे २ बढ़कर परब्रह्म तक पहुंचते हैं, इस लिये यह उद्गीथ परोवरीयस्=बड़े से बड़ा, कहलाता है। और इस गुण के सदृश ही इसकी उपासना का फल है।

दसवां खण्ड

मटचीहतेषु कुरुष्वाटिक्या सह जाययोषस्तिर्ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास ।१।

* जब ओलों [के पड़ने] से कुरुदेश [कुरुदेशों की खेतियें] मारे गये, तब उषस्ति चाक्रायण [चक्र का पुत्र] बड़ा तंगदस्त हुआ, अपनी आटिकी † स्त्री के साथ इभ्य ‡ ग्राम में रहा। १।

---

* साम का जो भाग उद्गाता गाता है, उसे उद्गीथ कहते हैं, जो प्रस्तोता के गाने का है, उसे प्रस्ताव और जो प्रतिहर्ता के गाने का है,उसे प्रातिहार कहते हैं। यहां तक केवल उद्गीथ के देवता का विचार हुआ है। अब उसके साथ प्रस्ताव और प्रातिहार के देवता का भी विचार करते हैं।

† 'आटिकी' यह उषस्ति की स्त्री का नाम नहीं है। इसका अर्थ है, जो खुला घूमने के योग्य है। अभी छोटी अवस्था में है। एक युवति के लिये तंगी की हालत में बेघर होना अनुचित है। यह आशय शंकराचार्य और दूसरे व्याख्याकारों का है। पर हमें नाम मानने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती।

‡ इभ्यग्राम,महावतों का ग्राम; अथवा धनवानों का (शंकराचार्य)

स हेभ्यं कुल्माषान् खादन्तं बिभिक्षे । त ँ होवाच ।
नेतोऽन्ये विद्यन्ते यच्च ये म इम उपनिहिता' इति ।२।

उसने एक इभ्य को कुल्माष * खाते देखकर उससे भीख माँगी । इभ्य ने कहा 'मेरे पास और नहीं हैं, सिवाय इनके जो यह मेरे आगे धरे हुए हैं' । २ ।

'एतेषां मे देहीति' होवाच । तानस्मै प्रददौ । 'हन्तानुपानमिति' 'उच्छिष्टं वै मे पीतं स्यादिति' होवाच ।३।

उषस्ति ने कहा 'इन्हीं में से मुझे [खाने को] दो' उसने उसको दे दिये [और कहा] 'लो यह पानी पीने को है' उषस्ति ने कहा [यदि मैं इसमें से पिऊं, तो] मैं उसे पिऊंगा जो उच्छिष्ट [दूसरे का बचा हुआ है, जूठा] है । ३ ।

'नास्विदेतेऽप्युच्छिष्टा' इति । 'न वा अजीविष्यमिमानखादन्निति' होवच । 'कामो म उदपानमिति'।४।

इभ्य ने कहा 'क्या ये [कुल्माष] झूठे [उच्छिष्ट] नहीं हैं' ? उसने उत्तर दिया '[नहीं, क्योंकि] मैं जीता न रहता, यदि मैं इनको न खाता, पर पानी पीने को मेरे लिये बहुतेरा है' । ४ ।

स ह खादित्वाऽतिशेषान् जायाया आजहार ।
साग्र एव सुभिक्षा बभूव, तान् प्रतिगृह्य निदधौ ।५।

वह [उषस्ति] आप खाकर बाकी बचे हुए [कुल्माष] स्त्री के लिये लाया । पर उसे पहले ही अच्छी भिक्षा मिल चुकी थी, उनको लेकर उसने रख दिया । ५ ।

---

*कुल्माष, जौं का कोटा दले हुए जौं की खिचड़ी । अथवा कुलथ एकअन्न विशेष

स ह प्रातः सञ्जिहान उवाच 'यद्बताऽन्नस्य लभेमहि, लभेमहि धनमात्रां, राजाऽसौ यक्ष्यते, स मा सर्वैरार्त्विज्यैर्वृणीतेति, । ६ ।

दूसरे दिन प्रातःकाल उठते ही उषस्ति ने कहा 'शोक ! यदि हमें कुछ थोड़ा सा अन्न मिल जाए, तो हमें कुछ थोड़ा सा धन मिल जाए [जिससे हमारा जीवन होसके] वह राजा एक यज्ञ करने लगा है, वह मुझे सारे ऋत्विक् के कामों के लिये चुन लेगा'६।

तं जायोवाच 'हन्त पते ! इम एव कुल्माषा' इति । तान् खादित्वाऽमुं यज्ञं विततमेयाय । ७ ।

इसकी स्त्री ने उसे कहा 'लीजिये, हे पति ! यही [तुम्हारे] कुल्माष हैं' । उनको खाकर वह उस फैलाए हुए यज्ञ में आया ।७।

तत्रोद्गातॄनास्तावे स्तोष्यमाणानुपोपविवेश । स ह प्रस्तोतारमुवाच । ८ ।

वहां वह, आस्ताव * में जो स्तुति करने को बैठे हुए थे, उन उद्गाताओं † के पास बैठ गया । और उसने प्रस्तोता से कहा ।८।

'प्रस्तोतर् ! या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता, तां चेद् विद्वान् प्रस्तोष्यसि, मूर्धा ते विपतिष्यतीति' । ९ ।

---

* आस्ताव जिस स्थान में बैठे हुए उद्गाता प्रस्तोता और प्रतिहर्ता अपना २ साम भाग गाते हैं ।

† यद्यपि सामवेदी चार ऋत्विजों में से उद्गाता एक ऋत्विज है । पर यहां 'उद्गातॄन्' उद्गाताओं, यह बहु वचन सारे सामवेदी ऋत्विजों के अभिप्राय से है । सोम यज्ञ में सोम भक्षण के प्रसंग में

हे प्रस्तोतः ! जो देवता प्रस्तावमे सम्बन्ध रखता है, उसको यदि तुम न जानते हुए प्रस्ताव गाओगे, तो तुम्हारा सिर गिर जायगा, * । ९ ।

एवमेवोद्गातारमुवाच 'उद्गातर् ! या देवता-उद्गीथ मन्वायत्ता,तां चेदविद्वानुद्गास्यसि,मूर्धा ते विपतिष्यतीति' । १० ।

ऐसे ही उसने उद्गाता को कहा ' हे उद्गातः ! जो देवता उद्गीथ से सम्बन्ध रखता है, उसको यदि तुम न जानते हुए उद्गीथ गाओगे, तो तुम्हारा सिर गिर जाएगा' ॥ १० ॥

एवमेव प्रतिहर्तारमुवाच 'प्रतिहर्तर् ! या देवता प्रतिहारमन्वायत्ता तांश्चेदविद्वान् प्रतिहरिष्यसि,मूर्धाते विपतिष्यतीति'तेहसमारतास्तूष्णीमासाञ्चक्रिरे ॥११॥

ऐसे ही उसने प्रतिहर्ता को कहा ' प्रतिहर्तः ! जो देवता प्रतिहार से सम्बन्ध रखता है, उसको यदि तुम न जानते हुए

भी ' उद्गातृन् ' उद्गातृ शब्द का बहुवचन है । और उससे सारे सामवेदी लिये जाते हैं, यह मीमांसा० ३।५।२२२६ में निर्णय कियाहै

* खाने को पास अन्न नहीं, जूठा और बासी खाते फिरते हो, और यहां आकर इतने बड़े विद्वानों को तुमने हैरान कर दिया है । हे ऋत्विजन ! तुम्हारी महिमा तुम ही जानते हो, हमारी समझ में नहीं आता, कि क्यों इतने बड़े विद्वान् ने बहुत सा धन इकट्ठा न कर लिया, उस समय तो राज्य भी संस्कृत का ही था । पर तुम सच मुच हमें निरुत्तर कर देते हो, जब यह कह देते हो, कि हम विद्या को बेचते नहीं थे, सब को मुफ्त देते थे, तभी तो इस देश के राजा रंक सब के सब विद्यावान् होते थे ।

प्रतिहार गाओगे, तो तुम्हारा सिर गिर जाएगा' * ।

तब वह बन्द होगए और चुपचाप बैठ गए ॥ ११ ॥

ग्यारहवां खण्ड ।

अथ हैनं यजमान उवाच 'भगवन्तं वा अहं विविदिषाणीति' 'उषस्तिरस्मि चाक्रायण' इतिहोवाच ।१।

तब उसे यजमान ने कहा 'भगवन् ! मैं आपको जानना चाहता हूं, (आप कौन हैं)' उसने उत्तर दिया, 'मैं उषस्ति चाक्रायण हूं' ॥१॥

स होवाच 'भगवन्तं वा अहमेभिः सर्वैरार्त्विज्यैः पर्यैशिषं, भगवतो वा अहमवित्त्या ऽन्यानवृषि' ।२।

उसने कहा 'भगवन् ! मैंने ऋत्विजों के इन सारे कामों [पर दृष्टि रखने के लिये] के लिये आपको बहुत ढूंढा, पर आप

* यदि प्रस्ताव के देवता को न जानता हुआ तू प्रस्ताव गाएगा, तो तेरा सिर गिर जाएगा, इससे यह नहीं जानना चाहिये, कि बिना रहस्यार्थ जाने किसी को ऋत्विज् नहीं बनना चाहिये, किन्तु विद्वान् के सामने अविद्वान् को कराने का अधिकार नहीं,इसी लिये आगे उषस्ति ने कहा है, 'यदि तू देवता को बिना जाने कर्म कराता, तो तेरा सिर गिर जाता, जबकि मैंने ऐसा कह दिया था' हां विद्वान् की अनुज्ञा से अविद्वान् भी करा सकता है,जैसाकि यहां भी आगे उषस्ति ने उनको कर्म कराने की अनुज्ञा दे दी थी । रहस्यार्थ जानने वालों से कराया हुआ कर्म बढ़कर बलवाला होता है, उसकी अपेक्षा से,कि जो मर्म के न जानने वालों से कराया गया है । (देखो०१.१।१०)। पर कर्म कर्ममात्र के जानने वाले से भी पूरा किया जासका है । और इन्हीं के लिये दक्षिणमार्ग बतलाया है । और जो साथ रहस्यार्थ भी जानते हैं, उनके लिये उत्तरमार्ग है (शंकराचार्य)

के न मिलने से * मैंने दूसरों को चुना' ॥ २ ॥

भगवांस्त्वेव मे सर्वैरार्त्विज्यैरिति' 'तथेति' 'अथत-र्ह्येत एव समतिसृष्टाः स्तुवताम् । यावत्त्वेभ्यो धनं द-द्यास्,तावन्मम दद्या' इति।'तथेति'ह यजमान उवाच।३।

'तथापि हे भगवन् ! अब आप मारे ऋत्विज् के कर्मों को अपने हाथलें'।

उषस्ति ने कहा 'बहुत अच्छा; तो अब यही मेरी अनुज्ञा से स्तुति गाएं, पर जितना धन इनको दो, उतना मुझे दो † । यजमान ने कहा 'बहुत अच्छा' ॥ ३ ॥

अथ हैनं प्रस्तोतोपससाद । 'प्रस्तोतर् ! या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता, तां चेदविद्वान् प्रस्तोष्यसि, मूर्धा ते विपतिष्यतीति' मा भगवानवोचत् । 'कतमा सा देवतेति' ॥ ४ ॥

तब प्रस्तोता (शिष्य के तौर पर) उसके पास आया,(और कहा) 'भगवन् ! आपने मुझे कहा है "हे प्रस्तोतः ! जो देवता प्रस्ताव से सम्बन्ध रखता है, उसको यदि तुम न जानते हुए प्रस्ताव गाओगे, तो तुम्हारा सिर गिरजाएगा" सो वह देवता कौनसा है'।४

'प्राण' इति होवाच ।'सर्वाणि हवा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति,प्राणमभ्युज्जिहते। सैषादेवता

---

* मिलते कहां से, कोई ठिकाना था । यह तुम्हारा सौभाग्य है कि रात का बचा बचाया खापीकर अपने आप आपहुंचे हैं ।

† सवेरे ही अभी जो कुछ खाकर आए हैं, वह ताज़ह २ बाद है, इसलिये पहले ही ठेका कर लिया है ॥

प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान् प्रास्तोष्यो, मूर्धा ते व्यपतिष्यत्, तथोक्तस्य मयेति' ॥ ५ ॥

उसने कहा 'प्राण'। क्योंकि ये सारे भूत प्राण में लीन होते हैं, और प्राण से निकलते हैं *। यह देवता प्रस्ताव से सम्बन्ध रखता है, यदि तुम इस देवता को न जानते हुए प्रस्ताव पढ़ते, तो तुम्हारा सिर गिरजाता, जब कि मैंने ऐसा कह दियाथा ॥ ५ ॥

अथ हैनमुद्गातोपससाद 'उद्गातर् ! या देवतोद्गीथमन्वायत्ता, तां चेदविद्वानुद्गास्यसि, मूर्धा ते विपतिष्यतीति' मा भगवानवोचत्। कतमा सा देवतेति'॥६॥

तब उद्गाता उसके पास आया (और कहा) 'भगवन् ! आपने मुझे कहा है "हे उद्गाता ! जो देवता † उद्गीथ से सम्बन्ध रखता है, उसको यदि तुम न जानते हुए उद्गीथ गाओगे, तो तुम्हारा सिर गिर जाएगा" सो वह कौनसा देवता है' ॥ ६ ॥

'आदित्य' इति होवाच। 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यादित्यमुच्चैः सन्तं गायन्ति, सैषा देवतोद्गीथमन्वायत्ता' तां चेदविद्वानुदगास्यो, मूर्धा ते व्यपतिष्यत्, तथोक्तस्य मयेति ॥ ७ ॥

उसने कहा 'आदित्य (सूर्य)'। क्योंकि ये सारे भूत सूर्य को गाते हैं, जब वह ऊंचा होता है (उदय होता है)। यह देवता उद्गीथ

---

* यहां प्राणसे अभिप्राय परमात्मा है, क्योंकि उसी से सारे भूत उत्पन्न होते और उसी में लीन होते हैं। देखो, वेदान्त० १।१।२३॥

† देवता से प्रायः व्यष्टि रूप में ब्रह्म का वर्णन होता है॥

से सम्बन्ध रखता है। यदि इस देवता को बिना जाने तुम उद्गीथ गाते, तो तुम्हारा सिर गिरजाता, जब कि मैंने ऐसा कह दिया था ॥७॥

अथ हैनं प्रतिहर्तोपससाद 'प्रतिहर्तर् ! या देवता प्रतिहार मन्वायत्ता, तां चेदाविद्वान् प्रतिहरिष्यसि, मूर्धा ते विपतिष्यतीति' मा भगवानवोचत्, 'कतमा सा देवतेति' ॥८॥

तब प्रतिहर्ता उसके पास आया (और कहा) 'भगवन् ! आपने मुझे कहा है " हे प्रतिहर्तः ! जो देवता प्रतिहार से सम्बन्ध रखता है, उसको यदि तुम न जानते हुए प्रतिहार गाओगे, तो तुम्हारा सिर गिरजाएगा" सो वह कौन सा देवता है' ॥ ८ ॥

'अन्नमिति' होवाच । 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्यन्नमेव प्रतिहरमाणानि जीवन्ति, सैषा देवता प्रतिहारमन्वायत्ता, तां चेदाविद्वान् प्रत्यहरिष्यो, मूर्धा ते व्यपतिष्यत्, तथोक्तस्य मयेति' ॥ ९ ॥

उसने कहा 'अन्न' । क्योंकि ये सारे भूत अन्न का ही ग्रहण करते हुए [प्रतिहरमाणानि] जीते हैं। यह देवता प्रतिहार से सम्बन्ध रखता है, यदि इस देवता को विनाजाने तुम प्रतिहार गाते, तो तुम्हारा सिर गिर जाता, जब कि मैंने ऐसा कहदिया था' ॥ ९ ॥

भाष्य—उषस्ति का इतिहास बतलाता है, कि पुराने समय में छूतछात का बखेड़ा न था, केवल उच्छिष्ट को दोष माना गया था । जब महावत ने उषस्ति को पानी दिया, तो उसने न पीने का हेतु केवल

यही कहा है, कि यह उच्छिष्ट है। यह नहीं कहा, कि यह महावत के घर का है।

दूसरा—वह धर्मशास्त्रों की आज्ञाओं के मर्म जानते थे, उच्छिष्ट इसलिये दोष है.. कि कुछ तो उसमें स्वाभवतः ही घृणा होती है; और भोजन वही पूरी पुष्टि देता है, जिसको देख कर चित्त प्रसन्न होजाए। घृणा से तो प्रत्युत उलटे फल की भी संभावना है। और दूसरा उच्छिष्ट मे रोगों का सञ्चार भी होता है। और क्या यह मनस्विता के विपरीत भी नहीं है? कि हम दूसरे का बचा हुआ खाएं। इसलिये उच्छिष्ट को अभोज्य कहा है। पर यहां उषस्ति के सामने भूखे मरकर प्राण देने का और इन दोषों की संभावना का मुकाबिला है। उसने मृत्यु से अपने आप को बचाया। ऐसे समय में पहला और तीसरा दोष तो प्रायः उत्पन्न ही नहीं होता। रहा रोग का, वह भी संभावित है। और उसका प्रतीकार (इलाज) है, मृत्यु का प्रतीकार नहीं। इसलिये उषस्ति ने उच्छिष्ट निषेध के असली तात्पर्य को लिया, न कि शब्दों को। ऐसा ही आचरण और भी ऋषियों ने किया है (देखो मनु० १० । १०५—१०८) इसी आशंका को निवृत्त करने के लिये वेदव्यास ने लिखा है:—

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् (वेदान्तः ३ । ४ । २८) प्राणों की आशंका (खतरे) में हरएक अन्न के लिये अनुमति है. क्योंकि ऐसा देखागया है।

यहां 'देखागया है' से इशारा उषस्ति के जूठे और बासी भोजन की ओर है।

तीसरा—जूठा भोजन खाने पर भी जूठा पानी नहीं पिया। यह अपने आप को संभालना है। उषस्ति विपत्ति का मुकाबिला

कररहा है। जिसका हृदय गिरजाता है, वह यह कह कर अपने आपको सन्तोष देलेता है, कि चलो अब क्या है, जब जूठा अन्नही खालिया, तो अब पानी बाकी रहगया। पर नहीं उषस्ति कहता है, पानी नहीं पिऊंगा, क्योंकि यह जूठा है। ऐसे पुरुष की प्रकृति पर दोष अपना अधिकार नहीं जमासक्ते। उषस्ति के सामने अब कोई दोष आकर यह नहीं कह सक्ता, कि चलो अब तो तुम गिरगए, मुझे भी थोड़ी सी जगह दे दो। पर हां जो यह कह कर सन्तोष दे लेता है, कि 'अब क्या रहा' वह धीरे २ सारे दोषों का शिकार बनजाता है। मनुष्य को चाहिये कि जब वह विपत्ति में हो, तो उसको काटे, पर अपने आपको कभी न गिराए। और यदि विपत्तिमें वा किसी दूसरे समय में उससे कोई त्रुटि हो जाए, तो उसके साथ दूसरी त्रुटियों को ज़रा भी जगह न दे। त्रुटि को त्रुटि समझे और सावधान होकर दृढ खड़ा हो कि फिर कोई त्रुटि उस के सम्मुख न आए। ऐसा निराश होकर गिर न पडे, जैसा कि आज कल इस जाति के लोग विपत्ति में वा भूल में भी विजाति के हाथ का खा कर ऐसा हाथ पाओं छोड़ कर गिरते हैं, कि अब वह और उन की सन्तानपरम्परा सदा के लिए उसी विजाति की जायदाद बन गई। उषस्ति को देखो, वह महावत का जूठा और वह भी बासी खाकर गया है और यज्ञ का अधिष्ठाता जा बना है, उस के ब्राह्मणत्व में कोई भेद नहीं आया। क्योंकि वह आप कायर नहीं बना। जिस तरह शत्रु का वार खाकर भी मुकाबिला किया जाता है। इस तरह दोष की चोट खाकर भी मुकाबिला जारी रक्खो। दोष शत्रु है, उसके सामने कभी न झुको। चोट खाओ, तौभी उसको मार हटाओ, यही वीरता है।

बारहवां खण्ड

अथातः शौव उद्‌गीथः । तद्ध वको दाल्भ्यो ग्लवो वा मैत्रेयः स्वाध्याय मुद्‌वव्राज ॥१॥

* अब शौव उद्गीथ कहते हैं। वक दाल्भ्य या ग्लाव मैत्रेय† स्वाध्याय के लिए बाहर (निर्जन स्थान में) गया ॥ १ ॥

तस्मै श्वा श्वेतः प्रादुर्बभूव,तमन्ये श्वान उपसमेत्योचुः 'अन्नं नो भगवानागायत्वशनायाम वा,इति ।२।

---

* अन्न के न मिलने से उषस्ति को इतना कष्ट हुआ कि उच्छिष्ट और बासी अन्न खाने तक की दशा आई। यह अन्न का कष्ट न हो, इस प्रयोजन के लिये अन्न का साधन यह शौव उद्गीथ आरम्भ करते हैं।

† शंकराचार्य यहां बक दाल्भ्य और ग्लाव मैत्रेय एक ही व्यक्ति का नाम लेते हैं। बक प्रसिद्ध नाम है और दाल्भ्य (दल्भ्य की सन्तान) यह गोत्र नाम है। और उसी का दूसरा नाम ग्लाव है और मैत्रेय मित्रा का पुत्र। मित्रा उसकी माता का नाम है । एक के दो नाम और दो गोत्र होना स्मृतियों में बतलाया है। और लोक में भी यह चाल है कि एक का असली पुत्र है और दूसरा उसे अपना धर्म पुत्र बना लेता है। यह दिखलाकर फिर शंकराचार्य ने लिखा हैं अथवा यह दोनों नाम दो ऋषियों के हैं। क्योंकि पहले अर्थ में 'वा, या' का अर्थ ठीक नहीं बन सकता था। और यही बात यथार्थ प्रतीत होती है, इस में वा का अर्थ भी ठीक लग जाता है। और १।२।१३ में जहां बकदाल्भ्य का पहले नाम आया है, उसके साथ 'ग्लावो वा मैत्रेयः' नहीं आया। और यहां यह इतना आवश्यक समझा है,कि दुबारा नाम लेते समय भी 'ग्लावो वा मैत्रेयः' भुलाया नहीं। वस्तुतः यह बात उपनिषद् का संग्रह करने वाले को ठीक स्मरण नहीं रही, कि इन दोनों में से कौन एक था, उसे जैसा सन्देह है, वैसा स्पष्ट लिख दिया है, कि वह बक दाल्भ्य था, वा ग्लाव मैत्रेय था।

उसके लिये श्वा श्वेत प्रकट हुआ, और दूसरे श्वा उसके गिर्द इकट्ठे हुए, और कहने लगे 'भगवन् ! हमारे लिये अन्न गाएं (गाकर लाभ करें) हम भूखे हैं' ॥२॥

तान् होवाच 'इहैव मा प्रातरुपसमीयातेति' तद्ध वको दाल्भ्यो ग्लावो वा मैत्रेयः प्रतिपालयाञ्चकार॥३॥

श्वेत ने उनको कहा 'यहां ही कल सवेरे मेरे पास आओ'। वहां वक दाल्भ्य या ग्लाव मैत्रेय ने इस बात को पूरे ध्यान से देखा ॥३॥

ते ह यथैवेदं वहिष्पवमानेन स्तोष्यमाणाः सꣳरब्धाःसर्पन्तीत्येवमाससृपुः। तेह समुपविश्य हिं चक्रुः॥४॥

अब जैसे वहिष्पवमान स्तोत्र * से स्तुति करने लगते हैं, तो [सारे ऋत्विज] एक दूसरे को पकड़े हुए [आगे पीछे] चलते हैं, ठीक इसी तरह वह [एक दूसरे के पीछे होकर] चले । फिर वह मिल कर बैठगए, और हिं † किया । ४ ।

ओ३म् मदा३ मों३ पिबा३ मों३ देवो वरुणः प्रजापतिः सविता२ऽन्नमिहा२ऽहरद॒ऽन्नपते ३ ऽन्नमिहा२हरा २ऽऽहरो३ मिति ।५।

'ओम्' हम खाएं। ओम्, हम पियें ! ओम्, देव वरुण, प्रजापति, सविता ‡ हमारे लिये अन्न लाए ! हे अन्न के मालिक अन्न लाओ, लाओ, ओम् । ५ ।

---

* साम उ० के १ । १ । १ । से २ । १।३ तक, यह तीन सूक्त (जो तीन २ ऋचा के हैं) मिलकर वहिष्पवमान स्तोत्र कहलाता है ।

† सामवेदी स्तोत्रविशेष का आरम्भ करते समय जो तीन बार हिं हिं हिं कहते हैं। यह हिंकार अर्थात् हिं करना कहलाता है ।

‡ सविता=उत्पन्न करने वाला [सब का] अर्थात् सूर्य ।

भाष्य—यह श्वेतश्वा और दूसरे श्वा कौन हैं इस पर शंकराचार्य लिखते हैं, कि श्वा अर्थात् कुत्ता । और वह लिखते हैं, कि बक-दाल्भ्य वा ग्लाव मैत्रेय अन्न की कामना से स्वाध्याय किया करता था। उसके स्वाध्याय से प्रसन्न होकर देवता वा ऋषि श्वेत कुत्ते का रूप धारण करके (और दूसरे देवता वा ऋषि दूसरे कुत्तों का रूप धारण करके-आनन्दगिरि) उसकी भलाई के लिये प्रकट हुए। और इस तरह पर उन्होंने दिखला दिया, कि अन्नप्राप्ति के लिये वैदिक विधि यह है। इसके पीछे शंकराचार्य ने फिर एक और पक्ष दिखलाया है, कि ऋषि के स्वाध्याय से प्रसन्न होकर मुख्य प्राणने और वाणी आदि इन्द्रियों ने [जो प्राण के सहारे अन्न खाती हैं] कुत्तों का रूप धारण करके उस पर अनुग्रह किया। और इस दूसरे पक्ष की समाप्ति का वचन यह कहा है, 'युक्तमेवं प्रतिपत्तुम्' अर्थात् ऐसा जानना युक्त है। इससे प्रतीत होता है, कि यह दूसरा पक्ष स्वामी शंकराचार्य का निज सम्मत है। और ऐसाही आनन्दगिरि ने लिखा है। संभव है, कि पहली कल्पना शंकराचार्य से पहले किसी व्याख्याकार की हो, और दूसरी उनकी अपनी। अस्तु दोनों कल्पनाओं में कुत्ते असली रूप में माने गए हैं। और इसी लिये जब उनके जलूस (Procession) का वर्णन आया, तो यह आशंका उठी, कि उन का जलूस ठीक बहिष्पवमान के जलूस की तरह कैसे बन सक्ता है, क्योंकि उसमें ऋत्विज एक दूसरे का वस्त्र पकड़ कर

वरुण और प्रजापति भी उसी को कहा है। वरुण=वर्षा करने वाला प्रजापति=प्रजा का रक्षक। और वह अन्नपति इस लिये है कि अन्न को उत्पन्न करता है और पकाता है [शंकराचार्य]।

चलते हैं, तो इसको इस तरह ठीक किया गया है, कि कुत्ते एक दूसरे की पूंछ को अपने मुंह में पकड़ कर चले।

आश्चर्य है कि यह कल्पनाएं कितनी दूर तक पहुंच गई हैं, पर उनकी तह में केवल एक दो शब्दों के सिवाय कुछ नहीं। यह विधि जिन लोगों ने की, उनकी जाति श्वा है न कि वह कुत्ते थे। रामचन्द्र के सहायक वानर थे, और जनमेजय के विरुद्ध लड़ने वाले नाग। इन दोनों जातियों के नाम को लेकर भी अनेक कल्पना हुई हैं, पर इतिहास ने सिद्ध कर दिया है, कि ये दोनों मानुषी जातियां थीं। और ऐसा ही माना जा सक्ता है। अब भी बहुत सी जातियां वृक्ष, अनाज, पशु और पक्षियों के नाम पर हैं। और यह नाम उनके अपने चुने हुए ही नहीं होते, किन्तु दूसरे लोग उनके लिये किसी न किसी हेतु से चुन लेते हैं। इस लिये यह आक्षेप नहीं रहता, कि ऐसा नाम ही क्यों पसन्द किया गया *। श्वा शब्द के सिवाय दूसरी बात शंकराचार्य ने यह लिखी है, कि यह एक दूसरे की पूंछ को मुंह में पकड़ कर चले। पर इन के लिये एक भी शब्द उपनिषद् के अक्षरों में नहीं है। केवल यही लिखा है, कि बहिष्पवमान के सदृश जलूस निकाला और फिर इकट्ठे बैठकर अपनी कामना का मन्त्र गाया। यह मन्त्र सामसंहिता के अन्दर नहीं। और यह विधि भी स्वतन्त्र है, इस लिये यहां इस का पूरा इतिहास देना उचित समझा गया है। इसको शौव उद्गीथ इसी लिये कहते हैं, कि इसके द्रष्टा श्वा हैं (श्वभिः दृष्टः शौवः)।

दो शब्द और हैं, जिनका आशय खोलना आवश्यक है 'तस्मै,

---

* मुझे कुछ उन लोगों से परिचय है, जिनको 'कुत्ते हुई' कहते हैं, और वह स्वयं भी अपने आपको यही बतलाते हैं॥

प्रादुर्बभूव' उसके लिये प्रकट हुआ. । यदि यह श्वा मनुष्य विशेष होते, तो उसके पास आया कहना चाहिये था, न कि उसके लिये प्रकट हुआ । प्रकट होना, छिपे हुए का होता है ॥

पर यहां कोई कठिनता की बात नहीं, यह शब्द कृतज्ञता का प्रकाश करते हैं। ऋषि स्वाध्याय के लिये उस स्थान में गया था, जहां मनुष्यों का वास न था। वहां उसे अचानक एक ऋषि का दृष्टि पड़ना और फिर उससे एक अपूर्व विद्या का विना यत्न लाभ होना जो उसके लिये बड़ी उपयोगी थी । यही उसके लिये उसका प्रकट होना है । हम भी कृतज्ञ होकर ऐसा ही कहा करते हैं ।

तेरहवां खण्ड *

अयं वाव लोको हाउकारो, वायुर्हाइकारश्, चन्द्रमा अथकार, आत्मेहकारो,ऽग्निरीकारः । १ ।

'हाउ' † यह [पृथिवी] लोक है, ‡ 'हाइ वायु है' 'अथ' चन्द्रमा है, 'इह' आत्मा है, 'ई' § अग्नि है ॥ १ ॥

---

* साम मन्त्रों के गाने को पूरा रखने के लिये बीच २ में जो अक्षर गाए जाते हैं, जो ऋचा के अन्दर नहीं होते, जैसे-हाउ, हाइ, औ होहाइ, इत्यादि । इन अक्षरों को स्तोभाक्षर कहते हैं । यहां पूर्व उद्गीथ प्रस्ताव आदि का विषय समाप्त करके अब, उनके गाने में जो स्तोभाक्षर आते हैं, यहां प्रपाठक की समाप्ति में उनका रहस्य बतलाकर इस विषय को समाप्त करते हैं ॥

† हाउ, स्तोभ रथन्तर साम में आता है, और रथन्तर साम को पृथिवी कहा है 'इयंवैरथन्तरम्' यह सम्बन्ध हाउ का पृथिवी से है [शंकराचार्य]

‡ हाइ; स्तोभ वामदेव्य साम में आता है ।

§ जो साम अग्नि सम्बन्धी हैं, 'ई' उनके निधन के तौर पर आता है

आदित्य ऊकारो, निहव एकारो, विश्वेदेवा औहोइकारः, प्रजापतिर्हिङ्कारः, प्राणः स्वरो, ऽन्नं या, वाग् विराट् । २ ।

'ऊ' सूर्य है, 'ए' बुलावा (आवाहन) है, 'औहोइ' * विश्वेदेव हैं, 'हिं' प्रजापति है, स्वर † प्राण है, 'या' अन्न है, 'वाग् ‡' विराट् है ॥ २ ॥

अनिरुक्तस्त्रयोदशः स्तोभः सञ्चरो हुंकारः । ३ ।

तेरहवां फैला हुआ स्तोभ 'हुं' अनिरुक्त (जिसका निर्वचन नहीं होसक्ता) अर्थात् परब्रह्म है ॥ ३ ॥

दुग्धेऽस्मै वाग् दोहं, यो वाचो दोहः । अन्नवानन्नादो भवति, य एतामेवं साम्नामुपनिषदं वेदोपनिषदं वेद इति । ४ ।

वाणी स्वयं उसके लिये दूध भरती है, जो वाणी का दूध है; और वह अन्न वाला (धनी) और अन्न खाने के योग्य (दृढ़) बनता है, जो इस प्रकार साममन्त्रों की इस उपनिषद् को जानता है, हां उपनिषद् को जानता है ॥ ४ ॥

दूसरा प्रपाठक

पहला खण्ड ।

समस्तस्य खलु साम्न उपासनं साधु, यत् खलु

---

* औहोइ, स्तोभ वैश्वदेव्य साम में आता है ।

† देखो 'छान्दो० उप० १ । ५ । ४

‡ वागुस्तोभ वैराज साम में आता है । विराट् से विराट् का अन्न अभिप्रेत है (शंकराचार्य)

साधु तत्सामेत्याचक्षते; यदसाधु तदसामेति ॥१॥

* सारे साम की उपासना (वतलाते हैं) वह साधु है (अर्थात समस्त साम को साधुदृष्टि से + उपासना चाहिये) । (क्योंकि लोक में) जो वस्तु अच्छी होती है, उसे साम कहते हैं, और जो अच्छी नहीं होती, उसे असाम कहते हैं ॥ १ ॥

तदुताप्याहुः 'साम्नैनमुपागादिति' साधुनैन मुपागादित्येव तदाहुः । 'असाम्नैन मुपागादिति' असाधुनैन मुपागादित्येव तदाहुः ॥ २ ॥

और (लोक में) ऐसा भी कहते हैं 'साम से उसने इसके पास गाकर सुनाया' अर्थात बड़ी सुन्दरता से इसे गाकर सुनाया । और 'असाम से उसने इसके पास गाया' अर्थात सुन्दरता से इसके पास गया, यही इन वचनों का अभिप्राय है ॥ २ ॥

अथोताप्याहुः 'साम नो बतेति' यत्साधु भवति साधुबतेत्येवतदाहुः 'असाम नो बतेति' यदसाधु भवति, असाधु बतेत्येव तदाहुः ॥ ३ ॥

और जब उनके लिये कोई बात भली होती है, तो वह कहते हैं, कि 'वास्तव में यह हमारे लिये साम है' अर्थात हमारे लिये

---

* पहले प्रपाठक में साम के विशेषभागों की उपासना और उनके रहस्यार्थ वर्णन किये हैं । अब वही सब कुछ सारे साम के विषय में बतलाते हैं ।

+ अर्थात सारे साम को साधु ध्यान करना चाहिये । साधु, अच्छा, नेक, नेकी, भला, भलाई ।

भला है। और जब भली नहीं होती, तो कहते हैं, कि यह हमारे लिये साम नहीं है, अर्थात् भला नहीं है, ॥ ४ ॥

स य एतदेवं विद्वान् साधुसामेत्युपास्तेऽभ्याशो ह यदेनꣳ साधवो धर्मा आ च गच्छेयुरुप च नमेयुः॥४॥

जो इसे इस प्रकार जानता हुआ साम को साधु के तौर पर उपासता है, जल्दी ही साधु धर्म (अच्छे गुण कर्म) उसके पास आएंगे, और उसके लिये झुक जाएंगे ॥ ४ ॥

दूसरा खण्ड

लोकेषु पञ्चविधꣳ सामोपासीत। पृथिवी हिङ्कारोऽग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधनम। इत्यूर्ध्वेषु ॥ १ ॥

लोकों के विषय में पांच प्रकार * के साम को उपासे †। पृथिवी हिङ्कार है, अग्नि प्रस्ताव है, अन्तरिक्ष उद्गीथ है, सूर्य प्रतिहार है, द्यौ निधन है। यह ऊपर को चढते हुए लोकों के विषय में [साम की उपासना है]। १।

---

* साम के पांच प्रकार जो यज्ञ में प्रयोग किये जाते हैं, यह हैं, हिङ्कार, प्रस्ताव, उद्गीथ, प्रतिहार और निधन। इन पांचों को साम की पांच भक्तियें (हिस्से) कहते हैं। और साम इन से पांचभक्तिक कहलाता है। अब यहां इनके विषय में उपासना और उनके अलग २ फल बतलाते हैं। इन पांचों भक्तियों को अलग २ रूप में उपासते हुए समस्त साम को साधु दृष्टि से उपासना चाहिये।

† यहां साम के जो पांच भाग हैं, उनको यज्ञ में लोक, वृष्टि, ऋतु, पशु और प्राणों की दृष्टि से उपासना चाहिये, अर्थात् हिङ्कार को पृथिवी की दृष्टि से देखे, न कि पृथिवी को हिङ्कार की दृष्टि से, क्योंकि यज्ञ का अंग हिङ्कार आदि हैं। (शंकराचार्य)

अथावृत्तेषु-द्यौ र्हिङ्कार आदित्यः प्रस्तावोऽन्तरिक्ष-मुद्गीथोऽग्निः प्रतिहारः पृथिवी निधनम् ॥ २ ॥

अब नीचे उतरते हुए लोकों के विषय में [साम की उपासना बतलाते हैं] द्यौ हिङ्कार है, सूर्य प्रस्ताव है, अन्तरिक्ष उद्गीथ है, अग्नि प्रतिहार है, पृथिवी निधन है । २ ।

कल्पन्ते हास्मै लोका ऊर्ध्वाश्चावृत्ताश्च, य एतदेवं विद्वांल्लोकेषु पञ्चविध ँ सामोपास्ते ॥ ३ ॥

वह जो यह ठीक २ जानकर लोकों के विषय में पांच प्रकार के साम को उपासता है, उस के लिए ऊपर को चढ़ते हुए और नीचे को उतरते हुए लोक [उपभोग देने के] समर्थ होते हैं * । ३ ।

तीसरा खण्ड ।

वृष्टौ पञ्चविध ँ सामोपासीत । पुरोवातो हिङ्कारः, मेघो जायते स प्रस्तावः;वर्षति स उद्गीथः;विद्योतते स्तनयति स प्रतिहारः ॥ १ ॥

वृष्टि के विषय में पांच प्रकार के साम को उपासे । पूर्वी वायु (जो बादलों को लाता है) हिङ्कार है, बादल का बनना प्रस्ताव है, बरसना उद्गीथ है, चमकना और गर्जना प्रतिहार है । १ ।

उद्गृह्णाति तन्निधनम् । वर्षति हास्मै वर्षयति ह य एतदेवं विद्वान् वृष्टौ पञ्चविध ँ सामोपास्ते ॥२॥

बन्द होना निधन है । वह, जो यह ठीक २ जान कर वृष्टि के

* इसलोक से द्यौको जाते समय ऊपर२ के लोक और द्यौसे नीचे को आते समय नीचे२के लोक उसके लिये भोग देते हैं (शंकराचार्य)

विषय में पंचविध साम को उपासता है, उस के लिए (अपने आप) बरसता है और वह दूसरों के लिए बरसाता है ॥२॥

चौथा खण्ड ।

सर्वास्वप्सु पञ्चविध ँ सामोपासीत । मेघो यत् सम्प्लवते स हिङ्कारः यद्वर्षति स प्रस्तावः; याः प्राच्यः स्यन्दन्ते स उद्गीथः, याः प्रतीच्यः स प्रतिहारः, समुद्रो निधनम् ॥ १ ॥

सारे पानियोंके विषय में पञ्चविध साम को उपासे । मेघ की घटा का उठना हिंकार है, बरसना प्रस्ताव है, जो पूर्व को बहती हैं, यह उद्गीथ है, जो पश्चिम को बहती हैं, * यह प्रतिहार है । समुद्र निधन है ॥ १ ॥

न हाप्सुप्रैति; अप्सुमान् भवति; य एतदेवं विद्वान् सर्वास्वप्सु पञ्चविध ँ सामोपास्ते ॥ २ ॥

वह जो यह ठीक २ जान कर पञ्चविध साम को सारे जलों के विषय में उपासता है, वह पानियों में नहीं मरता है, और पानियों में अमीर होता है ॥ २ ॥

पांचवां खण्ड ।

ऋतुषु पञ्चविध ँ सामोपासीत । वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत् प्रतिहारो हेमन्तो निधनम् ॥ १ ॥

---

* पूर्व को गंगा आदि नदियें बहती हैं और पश्चिम को नर्मदा आदि (आनन्दगिरि)

ऋतुओं के विषय में पञ्चविध साम को उपासे। बसन्त हिंकार है, गर्मी प्रस्ताव है, बरसात उद्गीथ है, शरद(असूज, कातिक) प्रतिहार है, हेमन्त निधन है ॥ १ ॥

कल्पन्ते हास्मै ऋतव ऋतुमान् भवति, य एतदेवं विद्वानृतुषु पञ्चविध ँ सामोपास्ते ॥ २ ॥

वह जो इसे ठीक २ जानता हुआ ऋतुओं के विषय में पञ्चविध साम को उपासता है, उसके लिये सारी ऋतुएं समर्थ होती हैं (भोगे देने के), और वह ऋतुओं में अमीर (ऋतुओं के अच्छे फलों से युक्त) होता है ॥ २ ॥

छठा खण्ड

पशुषु पञ्चविध ँ सामोपासीत। अजा हिङ्कारो, ऽवयः प्रस्तावो, गाव उद्गीथ,ऽश्वाः प्रतिहारः, पुरुषो निधानम् ॥ १ ॥

पशुओं के विषय में पञ्चविध साम को उपासे। बकारियें हिंकार हैं, भेड़ें प्रस्ताव हैं, गौएं उद्गीथ हैं। घोड़े प्रतिहार हैं, पुरुष निधन हैं ।१।

भवन्ति हास्य पशवः पशुमान् भवति, यएतदेवं विद्वान् पशुषु पञ्चविध ँ सामोपास्ते ॥ २ ॥

वह, जो यह ठीक २ जानता हुआ पशुओं के विषय में पञ्चविध साम को उपासता है, उसके पशु होते हैं, और वह पशुओं में बड़ा अमीर होता है ॥ २ ॥

सातवां खण्ड

प्राणेषु पञ्चविधं परोवरीयः सामोपासीत। प्राणो

हिंकारो वाक् प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारो मनो निधनम् । परोवरीया ७ सि वा एतानि ।१।

प्राणों (इन्द्रियों) के विषय में पञ्चविध साम को उपासे,जो(साम) बड़े से बड़ा है । प्राण * हिंकार है, वाणी प्रस्ताव है, आंख उद्गीथ है। श्रोत्र प्रतिहार हैं, मन निधन है। ये हैं एक दूसरे की अपेक्षा से बड़े।

परोवरीयो हास्य भवति, परोवरीयसो ह लोकाञ्जयति य एतदेवं विद्वान् प्राणेषु पञ्चविध ७ सामोपास्ते । इति तु पञ्चविधस्य ॥ २ ॥

जो यह ठीक २ जानता हुआ प्राणों (इन्द्रियों) में पञ्चविध सामको उपासता है, वह उसका स्वामी होता है, जो कुछ बड़े से बड़ा है, और बड़े से बड़े लोकों को जीतता है । यह हैं पञ्चविध साम की (उपासनाएं) ॥ २ ॥

आठवां खण्ड

अथ सप्तविधस्य—वाचि सप्तविध ७ सामोपासीत । यत् किञ्च वाचो हुं इति स हिङ्कारः,यत्प्रेति स प्रस्तावः, यदेति स आदिः ॥ १ ॥

अब सप्तविध † (सात प्रकार के सामकी उपासनाएं कहते

---

* प्राण से यहां नासिक्य प्राण अर्थात् घ्राण अभिप्रेत है,मुख्य प्राण नहीं । क्योंकि यहां क्रमशः एक दूसरे से बड़े इन्द्रिय बतलाए हैं ॥

† पूर्व जो प्रत्येक सामगान के पांच भाग बतलाए हैं, उनके साथ,दो भाग और मिलाने से सात होते हैं,वह दो यह हैं आदि और उपद्रव। आदि सब से पहला अर्थात् ओम् है। इन सातों भागों से साम सासभक्तिक कहलाता है । पांच भक्तिक साम की उपासना के साथ अब यह सासभक्तिक साम की उपासना बतलाते हैं ॥

हैं) वाणी में सप्तविध सामको उपासे । वाणी में जहां कहीं * 'हुं' आता है, वह हिंकार है, जो 'प्र' है, वह प्रस्ताव है' जो 'आ' है, वह आदि है (प्रथम है, ओम् है) ॥ १ ॥

यदुदिति स उद्गीथः, यत्प्रतीति स प्रतिहारः, यदुपेति स उपद्रवः, यन्नीति तन्निधनम् ॥ २ ॥

जो 'उत्' है, वह उद्गीथ है, जो 'प्रति' है, वह प्रतिहार है, जो 'उप' है, वह उपद्रव है, जो 'नि' है, वह निधन है ॥ २ ॥

दुग्धेऽस्मै वाग्दोहं,यो वाचो दोहोऽन्नवानन्नादो भवति, य एतदेवं विद्वान् वाचि सप्तविधꣳ सामोपास्ते ३

: वाणी उसके लिये स्वयं दूध झरती है, जो वाणी का दूध है, और वह अन्न में बड़ा अमीर और अन्न खाने के योग्य होता है †

अथ खल्वमुमादित्यꣳ सप्तविधꣳ सामोपासीत । सर्वदा समस्तेन साम, मां प्रति मां प्रतीति सर्वेण समस्तेन साम ॥ १ ॥

वह (द्यौलोक में) जो सूर्य है, उसकी दृष्टि से सप्तविध साम को उपासे । क्योंकि वह सर्वदा सम रहता है; और कि, प्रत्येक पुरुष समझता है, कि वह मेरे लिये है, वह मेरे लिये है, इस प्रकार वह सब के साथ सम है । इसलिये वह साम ‡ है ॥

---

* अर्थात् सारे वाङ्मय में जो 'हुं' है, वह हिङ्कार है, जो 'प्र' है वह प्रस्ताव है, इत्यादि ॥

† पूर्व देखो १ । ३ । ७; १ । १३ । ४ ॥

‡ अर्थात् सूर्य सर्वदा सम है, वा सबके लिये सम है । इस लिये उसे साम कहते हैं । सम से साम है ॥

तस्मिन्निमानि सर्वाणि भूतान्यन्वायत्तानीति विद्यात्, तस्य यत् पुरोदयात् स हिङ्कारः। तदस्य पशवोऽन्वायत्ताः। तस्मात् ते हिङ्कुर्वन्ति, हिङ्कारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः॥ २॥

यह जानना चाहिये, कि ये सारे प्राणधारी उसी पर निर्भर रखते हैं। उसका जो रूप उदय से पहले है, वह हिङ्कार है। इस पर पशु निर्भर रखते हैं। इसलिये वह (पशु (सूर्योदय से पहले) हिं * करते हैं, क्योंकि वह इस साम (सूर्य) के हिंकार के भागी (हिस्सेदार) हैं॥ २॥

अथ यत् प्रथमोदिते स प्रस्तावः। तदस्य मनुष्या अन्वायत्ताः। तस्मात् ते प्रस्तुतिकामाः प्रशꣳसाकामाः, प्रस्तावभाजिनो ह्येतस्य साम्नः॥ ३॥

और पहले पहल उदय होते ही जो उसका रूप है, वह प्रस्ताव है। उसके इस रूप पर मनुष्य निर्भर रखते हैं। इसलिये मनुष्य बड़ी स्तुति (प्रस्तुति, प्रस्ताव) और प्रशंसा को चाहते हैं, क्योंकि वह इस साम (सूर्य) के प्रस्ताव के भागी हैं॥ ३॥

अथ यत् सङ्गववेलायाꣳ स आदिः। तदस्य वयाꣳस्यन्वायत्तानि। तस्मात् तान्यन्तरिक्षेऽनारम्बणान्यादायात्मानं परिपतन्ति, आदिभाजीनि ह्येतस्य साम्नः॥ ४॥

---

* गाय प्रायः प्रभात समय ऐसीही ध्वनि करती हैं॥

अब जो इस का रूप सङ्गव * के समय पर है, वह आदि (प्रथम, ओम) है, उसके इस रूप पर पक्षी निर्भर रखते हैं। इसलिये पक्षी आकाश में विना किसी सहारे के अपने आपको थाम कर (आदाय) उड़ते फिरते हैं, क्योंकि वह इस साम (सूर्य) के आदि (ओम्) के भागी हैं ॥ ४ ॥

अथ यत् सम्प्रति मध्यन्दिने स उद्गीथः । तदस्य देवा अन्वायत्ताः । तस्मात् ते सत्तमाः प्राजापत्यनाम्, उद्गीथभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ५ ॥

अब जो उसका रूप ठीक दुपहर के समय है, वह उद्गीथ है। उसके इस रूप पर देवता निर्भर रखते हैं (क्योंकि वह चमकनेवाले हैं), इसलिये वह प्रजापति की सन्तान में से सब से उत्तम हैं। क्योंकि वह इस साम के उद्गीथ के भागी हैं ॥ ५ ॥

अथ यदूर्ध्वं मध्यन्दिनात् प्रागपराह्णात्, स प्रतिहारः। तदस्य गर्भा अन्वायत्ताः। तस्मात् ते प्रतिहृता नावपद्यन्ते, प्रतिहारभाजिनो ह्येतस्य साम्नः॥६॥

अब जो इसका रूप दुपहर से पीछे और पिछले पहर से पहले है, वह प्रतिहार है। उसके इस रूप पर गर्भ निर्भर रखते हैं। इस लिये वह गर्भ में स्थित हुए (प्रतिहृताः) गिर नहीं पड़ते, क्योंकि वह इस साम के प्रतिहार के भागी हैं ॥ ६ ॥

---

* सङ्गव, जब सूर्य रश्मियों को ग्रहण करता है। और जब के गौएं बछड़ों से मिलती हैं। दूध दुह कर जब बछड़ों को दूध पीने के लिए खोल दिया जाता है ॥

अथ यदूर्ध्वंमपराह्णात् प्रागस्तमयात् स उपद्रवः, तदस्यारण्या अन्वायत्ताः, तस्मात् ते पुरुषं दृष्ट्वा कक्ष ँ श्वभ्रमित्युपद्रवन्ति । उपद्रवभाजिनो ह्येतस्य साम्नः ॥ ७ ॥

अब जो इसका रूप पिछे* पहर से पीछे और अस्त होने से पहले है, वह उपद्रव है। उसके इस रूप पर जंगली पशु निर्भर रखते हैं। इसलिये जब वह किसी पुरुष को देखते हैं, तो वह जंगल को अपनी सुरक्षित छिपने की जगह मानकर भाग जाते हैं (उपद्रवन्ति), क्योंकि वह इस साम के उपद्रव के भागी हैं ॥ ७ ॥

अथ यत् प्रथमास्तमिते तन्निधनं, तदस्य पितरोऽन्वायत्ताः, तस्मात् तान्निदधति, निधनभाजिनो ह्येतस्य साम्नः । एवं खल्वमुमादित्य ँ सप्तविध ँ सामोपास्ते ॥ ८ ॥

अब जो इसका रूप पहले पहले अस्त होने के समय है, वह निधन है। उसके इस रूप पर पितर निर्भर रखते हैं। इसलिये उन को नीचे रखते हैं * (निदधति क्योंकि वह इस साम के निधन के भागी हैं। इस प्रकार पुरुष इस सूर्य की दृष्टि से सप्तविध साम को उपासता है ॥ ८ ॥

दसवां खण्ड

अथ खल्वात्मसम्मित मतिमृत्यु सप्तविध ँ

---

* कदाचित् मरने के पीछे चिता में रखने से अभिप्राय हो; उनके लिए पिण्ड देते हैं (शंकराचार्य) ॥

सामोपासीत । हिंकार इति त्र्यक्षरम्, प्रस्ताव इति त्र्यक्षरं, तत् समम् ॥ १ ॥

उस सप्तविध साम को उपासे जो अपने आप में बराबर* है और जो मृत्यु से पार ले जाने वाला है ॥

हिङ्कार शब्द तीन अक्षरवाला है, प्रस्ताव शब्द तीन अक्षर वाला है, वह सम (बराबर) है † ॥१॥

आदिरिति द्व्यक्षरं, प्रतिहार इति चतुरक्षरं । तत इहैकं, तत्समम् ॥ २ ॥

आदि शब्द दो अक्षर वाला है, प्रतिहार शब्द चार अक्षर वाला है, उससे एक (अक्षर जो तीन से अधिक है) यहां (आदि में डाला, तब) वह सम है ॥२॥

उद्गीथ इति त्र्यक्षरम्, उपद्रव इति चतुरक्षरम् । त्रिभि स्त्रिभिः समं भवत्यक्षर मतिशिष्यते त्र्यक्षरं तत् समम् ॥ ३ ॥

उद्गीथ तीन अक्षरवाला है, उपद्रव चार अक्षरवाला है, तीन तीन से सम होता है, एक अक्षर बच रहता है, इस तरह यह तीन अक्षर वाला है, वह सम है ॥३॥

---

* आपस में एक दूसरे के बराबर अर्थात् भिन्न २ साम भक्तियों की अक्षरों की संख्या आपस में एक दूसरे के बराबर [सम] है, इसलिये वह साम है । क्योंकि वह सम है ॥

आत्म सम्मितम्, आपस में एक दूसरे के सम, अथवा परब्रह्म के सम है, क्योंकि मृत्यु की जय का हेतु है, [शंकराचार्य]

† तीन अक्षर हि–ङ्का–र ये हैं, और तीनही प्र–स्ता–व यह हैं । इस तरह से आपस में सम हैं ।

निधनमिति त्र्यक्षरं तत्सममेव भवति । तानि हवा एतानि द्वाविंशतिरक्षराणि ॥ ४ ॥

निधन तीन अक्षरवाला है, वह सम ही है । सो यह बाईस अक्षर हैं ॥ ४ ॥

एकविꣳशत्याऽऽदित्यमाप्नोति, एकाविंशो वा इतोऽसावादित्यः । द्वाविꣳशेन परमादित्याज्जयति, तन्नाकं तद्विशोकम् ॥ ५ ॥

इक्कीस अक्षरों से वह (उपासक) सूर्य (मृत्यु) को पहुंचता है, क्योंकि वह सूर्य यहां से इक्कीसवां है, और बाईसवें अक्षर से वह उसको जीतता है जो सूर्य से परे है, और वह दुःख से रहित (स्थान) है, वह शोक से रहित है* ॥५॥

आप्नोतीहादित्यस्य जयं परो हास्यादित्यजया ज्जयो भवति, य एतदेवं विद्वानात्मसम्मितमति-मृत्यु सप्तविधं सामोपास्ते सामोपास्ते ॥ ६ ॥

वह सूर्य (मृत्यु) पर विजय पाता है, और सूर्य के विजय से परे जो विजय है, वह भी उसका होता है, जो इसे ठीक २

---

* यह जो अक्षर बच रहता है, यही बाईसवां है और सारे सात बार तीन २ अक्षर मिल के इक्कीस बनते हैं ॥

' बारह महीने पांच ऋतु [यहां हेमन्त और शिशिर को एक करके पांच कहे हैं] तीनलोक और वह सूर्य इक्कीसवां है यह श्रुति है [शंकराचार्य] ॥

जानता हुआ, आपस में बराबर और मृत्यु * से पार ले जानेवाले सप्तविध साम को उपासता है, हां सामको उपासता है ॥ ६ ॥

ग्यारहवां खंड † ।

मनो हिङ्कारो वाक् प्रस्तावश्चक्षुरुद्गीथः श्रोत्रं प्रतिहारः । प्राणो निधनम् । एतद् गायत्रं प्राणेषुप्रोतम्॥१॥

मन हिङ्कार है, वाणी प्रस्ताव है, आंख उद्गीथ है, श्रोत्र प्रतिहार है प्राण निधन है । यह गायत्र साम (पांच) प्राणों ‡ में प्रोया हुआ है ॥ १ ॥

स य एवमेतद् गायत्रं प्राणेषु प्रोतं वेद, प्राणी भवति सर्वमायुरेति, ज्योग्जीवति, महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या । महामनाःस्यात तद् व्रतम् ॥२॥

वह जो इस प्रकार गायत्र साम को प्राणों में प्रोया हुआ जानता है वह §अविकल इन्द्रियोंवाला होता है, सम्पूर्ण आयुको पंहुचता

---

* सूर्य मृत्यु है, क्योंकि दिन रात आदि काल के द्वारा जगत् का मारनेवाला है । इसके तैर जाने के लिये यह सामोपासन उपदेश किया है ॥

† यज्ञ सम्बन्धी समस्त साम के रहस्यार्थ कह दिये हैं, जो केवल ध्यान से सम्बन्ध रखते हैं, अब आगे भिन्न२ साम के असली नाम लेकर उनके रहस्यार्थ प्रकट करते हैं । ये नाम भी उसी क्रम से यहां कहे गए हैं, जिस क्रम से वह यज्ञ में प्रयोग होते हैं । गायत्र रथन्तर, वामदेव्य, बृहत्, वैरूप, वैराज, शक्करी, रेवती यज्ञायज्ञिय राजन

‡ मिलाओ छान्दो० उप० ; २ । ७ । १ । जहां प्राण दूसरे क्रम से कहे हैं ॥

§ गय प्राणों का नाम है [देखो बृह०उप०] गायत्री प्राणों की रक्षा करने वाली ॥

है, और उज्ज्वल जीना जीता है, महान् होता है प्रजा (सन्तान) से और पशुओं से और महान् कीर्ति से (गायत्र साम के उपासक का) व्रत यह है, कि वह बड़े मनवाला हो (क्षुद्रहृदय न हो) ॥२॥

बारहवां खण्ड

अभि मन्थति, स हिङ्कारः, धूमोजायते, स प्रस्तावः, ज्वलति, स उद्गीथः, अङ्गारा भवन्ति स प्रतिहारः, उपशाम्यति, तन्निधनम्, स ँ शाम्यति, तन्निधनम् । एतद् रथन्तरमग्नौ प्रोतं ॥१॥

जो (अरणि को) रगड़ना है, हिङ्कार है, जो धुआं उठता है, यह प्रस्ताव है, जो ज़लना है, यह उद्गीथ है; जो अङ्गारे बनने हैं, वह प्रतिहार है; जो बुझने लगता है, यह निधन है; जो बुझ जाना है, यह (भी) निधन है । यह रथन्तर साम अग्नि* में प्रोया हुआ है ॥ १ ॥

स य एवमेतद् रथन्तरमग्नौ प्रोतं वेद, ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति, सर्वमायुरेति, ज्योग्जीवति, महान् प्रजया पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्या । न प्रत्यङ्ङग्निमाचामेन्न निष्ठीवेद् तद्व्रतम् ॥२॥

वह जो इस प्रकार इस रथन्तर साम को अग्नि में प्रोया हुआ जानता है, वह ब्रह्मवर्चस † वाला और अन्नका खानेवाला (चमकती

---

* रथन्तर साम अग्नि मन्थन करने में प्रयोग किया जाता है ।

† ब्रह्मवर्चस, जो तप और स्वाध्याय से चेहरे पर तेज चमकता है । चिङ्गाड़ियों के तौर पर निकलता हुआ प्रतीत होता है ॥

हुई भूखवाला, स्वस्थ, नीरोग) होता है, सारी आयु को पहुंचता है। उज्वल जीता है,महान् होता है, प्रजा से और पशुओं से और महान् कीर्ति से (इस उपासना का यह) व्रत है,कि वह अग्नि के अभिमुख न आचमन करे, न थूके ॥ २ ॥

तेरहवां खण्ड

उपमन्त्रयते, स हिंकारः, ज्ञपयते स प्रस्तावः, स्त्रिया सह शेते स उद्गीथःप्रतिस्त्री सहशेते,स प्रतिहारः. कालं गच्छति तन्निधनम्, पारं गच्छति तन्निधनम् । एतद् वामदेव्यं मिथुने प्रोतम् ॥१॥

* वामदेव्य साम मिथुन (जोड़े) में प्रोया हुआ है ॥१॥

स य एवमेतद् वामदेव्यं मिथुने प्रोतं वेद, मिथुनी भवति, मिथुनान्मिथुनात् प्रजायते, सर्व मायुरेति, ज्योग्जीवाति, महान् प्रजाया, पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या, न कांचन परिहरेत तद् व्रतम् ॥ २ ॥

वह जो इस प्रकार इस वामदेव्य को मिथुन में प्रोया हुआ जानता है, वह मिथुनी † होता है (जोड़ेवाला होता है, विरह के दुःख का भागी नहीं होता) मिथुन २ से प्रजावाला होता है (अमोघ

* यह गर्भाधान कर्म सम्बन्धी वचन हैं इनकी व्याख्या सरल संस्कृत में करदेते हैं। उपमन्त्रयते,संकेतं करोति,स हिङ्कारः ज्ञपयते तोषयति स प्रस्तावः। स्त्रिया सह शयनं,एकपर्यङ्के गमनम् उद्गीथः कालं गच्छति मैथुनेन, पारं समाप्तिं गच्छति, तन्निधनम् ॥

† वायु जल के जोड़े के सम्बन्ध से वामदेव्य साम की उत्पत्ति कही गई है (शंकराचार्य) ॥

वीर्य होता है) सारी आयु को पहुंचता है, उज्ज्वल जीना जीता है, महान् होता है प्रजा से और पशुओं से। और महान् कीर्ति से। इस उपासना का यह व्रत है। किसी को न त्यागे *॥ २ ॥

चौदहवां खण्ड

उद्यन् हिंकार, उदितः प्रस्तावो मध्यान्दिन उद्गीथो ऽपराह्णः प्रतिहारोऽस्तं यन्निधनम्। एतद् बृहदादित्ये प्रोतम् ॥१॥

† उदय होता हुआ [सूर्य] हिंकार है, उदय होचुका हुआ प्रस्ताव है, दुपहर के समय वह उद्गीथ है, पिछले पहर वह प्रतिहार है, अस्त होता हुआ निधन है। यह बृहत् साम सूर्य ‡ में प्रोया हुआ है ।१।

स य एवमेतद्बृहदादित्ये प्रोतं वेदं, तेजस्व्यन्नादो भवति, सर्वमायुरेति ज्योग् जीवति,महान् प्रजया पशुभिर्भवति,महान्कीर्त्या।तपन्तंनानिन्देत्,तद्व्रतम्।२।

वह जो इस प्रकार इस बृहत् को सूर्य में प्रोया हुआ जानता है, वह तेजस्वी § होता है, अन्न खाने के योग्य [दृढ] होता है, सारी आयु को पहुंचता है, उज्ज्वल जीता है, महान् होता है, प्रजा से और पशुओं से, महान् कीर्ति से। इसका यह व्रत है। 'तपते हुए [गर्मी पहुंचाते हुए सूर्य] की कभी निन्दा न करे' ॥ २ ॥

---

* किसी (स्त्री) को न त्यागे=अपनी स्त्रियों में से किसी का त्याग न करे (आनन्द तीर्थ)। यह अधिक सम्भव है, कि जो उसे पहले वरना चाहे, उसमें सौन्दर्य आदि किसी बात की त्रुटि देखकर उसका त्याग न करे। यह स्त्री जाति की सम्मानना का व्रत है।

† मिलाओ अथर्व ९।५।९-२ से

‡ बृहत् का देवता सूर्य है (शंकराचार्य)

§ जिसकी ओर आंख उठाकर न देखसकें।

पन्द्रहवां खण्ड ।

अभ्राणि सम्प्लवन्ते, स हिङ्कारः; मेघो जायते स प्रस्तावः; वर्षति स उद्गीथः; विद्योतते स्तनयति स प्रतिहारः; उद्गृह्णाति, तन्निधनम् । एतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतम् ॥१॥

* जो धुंध इकट्ठी होती है, यह हिङ्कार है; मेघ बनता है यह प्रस्ताव है; बरसता है, यह उद्गीथ है, चमकता है गर्जता है, यह प्रतिहार है; बन्द होता है, यह निधन है; यह वैरूपसाम पर्जन्य [मेघ] में प्रोया हुआ है ॥ १ ॥

स य एवमेतद्वैरूपं पर्जन्ये प्रोतं वेद, विरूपाᳫँश्च सुरूपाᳫँश्च पशूनवरुन्धे, सर्वमायुरेति, ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्या । वर्षन्तं न निन्देत्, तद्व्रतम् । २ ।

वह जो इस प्रकार इस वैरूप साम को पर्जन्य में प्रोया हुआ जानता है, वह सब प्रकार के [विरूप, सुरूप] पशुओं को प्राप्त होता है, सारी आयु को पहुंचता है, उज्वल जीता है, महान् होता है प्रजा से, और पशुओं से, और महान् कीर्ति से । इसका व्रत यह है 'बरसते हुए की कभी निन्दा न करे' ॥ २ ॥

सोलहवां खण्ड ।

वसन्तो हिंकारो ग्रीष्मः प्रस्तावो वर्षा उद्गीथः शरत् प्रतिहारो हेमन्तो निधनम् । एतद्वैराजमृतुषु प्रोतम् ॥१॥

* मिलाओ अथर्व ९ । ५ । ६-७ से ।

बसन्त हिङ्कार है, ग्रीष्म प्रस्ताव है, बरसात उद्गीथ है, शरद प्रतिहार है, हेमन्त निधन है। यह वैराज साम ऋतुओं में पोया हुआ है ॥१॥

स य एव मेतद् वैराजमृतुषु प्रोतं वेद, विराजति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन, सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति, महान् प्रजया पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्या। ऋतून् न निन्देत्, तद् व्रतम् ॥ २ ॥

वह जो इस प्रकार इस वैराज साम को ऋतुओं में पोया हुआ जानता है, वह प्रजा से, पशुओं से और ब्रह्मवर्चस से चमकता है (विराजति) * पूर्ण आयु को पहुंचता है, उज्ज्वल जीता है, महान् होता है प्रजा से और पशुओं से और महान् कीर्ति से। इसका यह व्रत है 'ऋतुओं की कभी निन्दा न करे' ॥ २ ॥

सत्तरहवां खण्ड

पृथिवी हिंकारोऽन्तरिक्षं प्रस्तावो द्यौरुद्गीथो दिशः प्रतिहारः समुद्रो निधनम्। एताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोताः

पृथिवी हिङ्कार है, अन्तरिक्ष प्रस्ताव है, द्यौ उद्गीथ है, दिशाएं प्रतिहार हैं, समुद्र निधन है। ये शक्वरी † साम लोकों में ‡ पोए हुए हैं ॥ १ ॥

* जैसे ऋतु अपने २ धर्मों से चमकते हैं। 'विराजति' इस फल के सम्बन्ध से वैराज नाम है।

† 'शक्वर्यः' यह एक ही साम का नाम है। पर यह नित्य बहु वचन रहता है, ऐसे ही आगे 'रेवत्यः', यह बहु वचन भी है।

‡ शक्वरी साम महानाम्नी ऋचाओं में गाए जाते हैं। और उन ऋचाओं का सम्बन्ध 'जल महानाम्नी हैं' इससे जलों के साथ बतलाया है। और 'लोक जलों के सहारे हैं' यह श्रुति है। इस सम्बन्ध से शक्वरी साम लोकों में प्रतिष्ठित हैं (आनन्द गिरि)

स य एतमेताः शक्वर्यो लोकेषु प्रोता वेद, लोकी भवति, सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति, महान् प्रजया पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्या । लोकान् न निन्देत्, तद्व्रतम् ॥ २ ॥

वह जो इस प्रकार इन शक्वरियों को लोकों में प्रोया हुआ जानता है, वह लोकों का मालिक होता है, पूर्ण आयु को पहुंचता है, महान् होता है, प्रजा से और पशुओं से, और महान् कीर्ति से । और इस का व्रत यह है 'लोकों की कभी निन्दा न करे' ॥ २ ॥

अठारहवां खण्ड

अजा हिंकारोऽवयः प्रस्तावो गाव उद्गीथोऽश्वाः प्रतिहारः पुरुषो निधनम् । एता रेवत्यः पशुषु प्रोताः ॥१॥

बकरियें हिङ्कार हैं, भेड़ें प्रस्ताव हैं, गौएं उद्गीथ हैं, घोड़े प्रतिहार हैं, पुरुष निधन है । यह रेवतीसाम पशुओं में प्रोए हुए हैं ॥

स य एवमेता रेवत्यः पशुषु प्रोता वेद, पशुमान् भवति, सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति, महान् प्रजया पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्या । पशून् न निन्देत् तद्व्रतम् ॥ २ ॥

वह जो इस प्रकार इन रेवतियों को पशुओं में प्रोया हुआ जानता है, वह पशुओं में अमीर * होता है, पूर्ण आयु को पहुंचता है, उज्वल जीता है, महान् होता है, प्रजा से और पशुओं से और महान् कीर्ति से । इसका व्रत यह है, 'कि पशुओं की कभी निन्दा न करे' ॥ २ ॥

---

* रेवान् के अर्थ धनवान् हैं । 'पशु रेवती है, यह श्रुति है (आनन्दगिरि)

उन्नीसवां खण्ड

लोम हिंकार स्त्वक् प्रस्तावो मांस मुद्गीथो-ऽस्थि प्रतिहारो मज्जा निधनम् । एतद् यज्ञायज्ञिय मङ्गेषु प्रोतम् ॥ १ ॥

लोम हिङ्कार है, त्वचा (चमड़ा) प्रस्ताव है, मांस उद्गीथ है, अस्थि (हड्डी) प्रतिहार है, मज्जा (चर्बी) निधन है। यह यज्ञा-यज्ञिय साम अंगों में प्रोया हुआ है ॥ १ ॥

स य एवमेतद् यज्ञायज्ञिय मङ्गेषु प्रोतं वेद, अङ्गी भवति, नाङ्गेन विहूर्छति, सर्वमायुरेति, ज्योग्जीवति, महान् प्रजया पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्या । संवत्सरं मज्ज्ञोनाश्नीयात्, तद्व्रतम्, मज्ज्ञोनाश्नीयादिति वा२॥

वह जो इस प्रकार यज्ञायज्ञिय साम को अंगों में प्रोया हुआ जानता है, वह दृढ़ अंगों वाला होता है, किसी अंग से हीन वा टेढ़ा नहीं होता। पूर्ण आयु को पहुंचता है उज्ज्वल जीता है, महान् होता है प्रजा से पशुओं से। और महान् कीर्ति से। इस का व्रत यह है 'बरस भर मज्जा न खाए, वा (सर्वदा) मज्जा न खाए' ॥२॥

बीसवां खण्ड

अग्नि हिंकारो वायुः प्रस्ताव आदित्य उद्गीथो नक्षत्राणि प्रतिहारश्चन्द्रमा निधनम् । एतद् राजनं दे-वतासु प्रोतम् ॥ १ ॥

अग्नि हिंकार है, वायु प्रस्ताव है, सूर्य उद्गीथ है, नक्षत्र प्रति-हार हैं, चन्द्रमा निधन है। यह राजन साम देवताओं में प्रोया हुआ है ?

स य एवमेतद् राजनं देवतासु प्रोतं वेद, एतासामेव देवताना ᳫ सार्ष्टिता ᳫ सायुज्यं गच्छति,सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति,महान् प्रजया पशुभिर्भवति, महान् कीर्त्या । ब्राह्मणान्न निन्देत् तद्व्रतम् ॥२॥

वह जो इस राजन सामको देवताओं में प्रोया हुआ जानता है, वह इन्हीं देवताओं की सलोकता, सार्ष्टिता और सायुज्य*को प्राप्त होता है, पूर्ण आयु को पहुंचता है, उज्वल जीता है, महान् होता है प्रजा से और पशुओं से । और महान् कीर्ति से । इसका व्रत यह है 'ब्राह्मणों की निन्दा न करे' ॥२॥

इक्कीसवां खण्ड

त्रयी विद्या हिंकारः, त्रय इमे लोकाः स प्रस्तावः, अग्निर्वायुरादित्यःस उद्गीथः,नक्षत्राणि वयाᳫसि-मरीचयः स प्रतिहारः, सर्पा गन्धर्वाः पितरस्तन्निधनम् एतत् साम सर्वस्मिन् प्रोतम् ॥ १ ॥

त्रयी विद्या (ऋचा, यजु और साम की विद्या) हिङ्कार है, तीनों लोक (पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यौ) प्रस्ताव है, अग्नि वायु और सूर्य (तीन देवता) उद्गीथ है, नक्षत्र, पक्षी और किरणें प्रतिहार हैं, सर्प गन्धर्व और पितर निधन हैं । यह साम † हर एक वस्तु में प्रोया हुआ है ॥ १ ॥

---

* समान लोक में होना, समान शक्तिवाला होना और एकता । अर्थात् उसका लोक दुःख और अविद्या से रहित, शक्ति अप्रतिहत (जिसके लिए कोई रोक नहीं) और स्वभाव परोपकार-परायण होजाता है ॥

† यहां कोई गायत्रआदि नाम विशेष नहीं लिया, इस लिए

स य एवमेतत् साम सर्वस्मिन् प्रोतं वेद, सर्वं ह भवति ॥ २॥

वह जो इस साम को हर एक वस्तु में पोया हुआ जानता है, वह सब कुछ * होता है ॥ २ ॥

तदेष श्लोकः—'यानि पञ्चधा त्रीणि तेभ्यो न ज्यायः परमन्यदस्ति' ॥ ३ ॥

इस पर यह श्लोक है। जो पांच प्रकार के तीन † हैं, उन से बढ़कर और कुछ नहीं है ॥ ३ ॥

यस्तद्वेद स वेद सर्वं सर्वा दिशो बलि मस्मै हरन्ति। सर्वमस्मीत्युपासीत, तद्व्रतं तद्व्रतम् ॥ ४ ॥

जो उसको जानता है,वह सब कुछ जानता है। सारी दिशाएं उस (उपासक) के लिए बलि लाती हैं। वह ऐसा ध्यान करे 'मैं सब कुछ हूं' यह उसका व्रत है यह उसका व्रत है ‡ ॥ ४ ॥

बाईसवां खण्ड

विनर्दि साम्नो वृणे पशव्यमित्यग्नेरुद्गीथः,अनिरुक्तः प्रजापतेः, निरुक्तः सोमस्य,मृदु श्लक्ष्णं वायोः,

---

साम शब्द साममात्र का बोधक है।अर्थात् हिंकारआदि सामभक्तियों को त्रयीविद्या आदि की दृष्टि से उपासना चाहिए। और पिछली सामोपासनाओं में भी जिन २ में जो २ साम प्रोया हुआ बतलाया है, उस २ साम को उनकी दृष्टि से उपासना चाहिए। (शंकराचार्य)

* सब का मालिक होता है। [शंकराचार्य]

† त्रयी विद्या तीन लोक इत्यादि जो तीन २ हिंकार आदि के रूप में बतलाए गए हैं।

‡ यहां साम की उपासनाओं की समाप्ति है।

श्लक्ष्णं बलवदिन्द्रस्य, क्रौञ्चं बृहस्पतेः अपध्वान्तं वरुणस्य । तान्सर्वानेवोपसेवेत,वारुणं त्वेव वर्जयेत्॥१॥

साम का (साण्डकी गर्ज की तरह) गम्भीर स्वर से गाना पशुओं के लिए भला है, मैं उसे पसन्द करता हूं । ऐसा उद्गीथ (साम का गान) अग्नि का है, * अनिरुक्त † प्रजापति का है, निरुक्त सोम का है, नर्म और साफ (चिकना) वायु का है, साफ और बल वाला इन्द्र का है,कूंज के सदृश बृहस्पति का है । फूटा हुआ (फूटे हुए भांडे के सदृश, घां घां) वरुण का है । इन सब पर अभ्यास करे केवल वरुण सम्बन्धी को छोड़ देवे ‡ ॥ १॥

अमृतत्वं देवेभ्य आगायानीत्यागायेत् । स्वधां पितृभ्यः, आशां मनुष्येभ्यः । तृणोदकं पशुभ्यः, स्वर्गं लोकं यजमानाय । अन्नमात्मने आगायानीति एतानि मनसाध्यायन्नप्रमत्तः स्तुवीत ॥ २ ॥

§ (उद्गाता को) इस बुद्धि से गाना चाहिये, ¶ कि 'मैं

---

* उसका देवता अग्नि है ।

† जो निखेरकर अर्थात् दूसरों से अलग करके अपने निज-रूप में बतलाया जासकता है, वह निरुक्त, जो इस तरह निखेरा नहीं जासकता, वह अनिरुक्त है ।

‡ यहां वह भिन्न २ स्वर गिनाए हैं, जो साममन्त्रों के गाने में प्रयुक्त होते हैं । उनके नाम यह हैं । विनर्दि, अनिरुक्त, निरुक्त, मृदुश्लक्ष्ण, श्लक्ष्ण बलवत, क्रौञ्च, अपध्वान्त ।

§ गाने के समय ध्यान करने योग्य विषय को कहते हैं ।

¶ 'इत्यागायेत्' इस बुद्धि से गाना चाहिए यह पाठ शंकराचार्य की व्याख्या में नहीं लिया गया, और इसके छोड़ देने में कोई त्रुटि भी नहीं है ।

अमृत देवताओं के लिए गाउं (अपने गाने से सम्पादन करूं)। स्वधा पितरों के लिए। आशा मनुष्यों के लिए। तृण (चारह) और पानी पशुओं के लिए। स्वर्गलोक यजमान के लिये, और अन्न अपने लिए गाउं'। इस प्रकार वह (उद्गाता) इनको मन से ध्यान करता हुआ अप्रमत्त होकर (उच्चारण आदि में कोई अशुद्धि न करता हुआ) स्तुति करे। २।

सर्वे स्वरा इन्द्रस्यात्मानः, सर्व ऊष्माणः प्रजापतेरात्मानः, सर्वे स्पर्शा मृत्योरात्मानः। तं यदि स्वरेषूपालभेत, 'इन्द्र ँ शरणं प्रपन्नोऽभूवं, स त्वा प्रतिवक्ष्यती' त्येनं ब्रूयात्। ३।

* सारे स्वर इन्द्र का शरीर हैं, सारे ऊष्म प्रजापति का शरीर हैं, सारे स्पर्श मृत्यु का शरीर हैं। सो यदि कोई पुरुष उसे स्वरों में उलहना दे † तो वह उसे कहे 'मैं इन्द्र की शरण पड़ा था (स्वरों का उच्चारण करता हुआ) वही (तुझे) उलटा कहेगा ‡॥३॥

---

* साम की भिन्न २ ध्वनियों के देवता कह कर अब अक्षरों के देवता कहते हैं। स्वर–अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ए ऐ ओ औ। ऊष्म–शषसह। स्पर्श–क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ ट ठ ड ढ ण त थ द ध न प फ ब भ म।

† कि तू ने अमुक स्वर ठीक नहीं उचारा है॥

‡ अर्थात् मैं स्वरों का प्रयोग करता हुआ, स्वरोंके अधिष्ठाता इन्द्र की शरण में पहुंचा हुआ था, तुम मेरे ऊपर आक्षेप करते हो,तुम्हारे ऊपर उस देवतासे आक्षेप होगा। अभिप्राय यहहै जो अपने इष्टदेवकी भक्ति में उसके साथ एक हो रहा है,ईर्षाके वश हो कर उसका अनिष्ट चाहना उलटा अपने ऊपर पड़ता है। इसलिये यहां तीनों जगह प्रति शब्द का प्रयोग है। प्रति वक्ष्यति, उलटा कहेगा या उत्तर देगा,प्रति पेक्ष्यति, उलटा पीसेगा, प्रतिधक्ष्यति, उलटा जलाएगा। यह उनको

अथ यद्येन मूष्मसूपालभेत, 'प्रजापति ँ शरणं प्रपन्नोऽभूवं स त्वा प्रतिपेक्ष्यती' त्येनं ब्रूयाद । अथ यद्येन ँ स्पर्शेषूपालभेत 'मृत्यु ँ शरणं प्रपन्नोऽभूवं, स त्वा प्रतिधक्ष्यती' त्येनं ब्रूयात् ॥ ४ ॥

और यदि कोई इसे ऊष्मों में उलहना दे, तो वह उसे कहे 'मैं प्रजापति की शरण पड़ा था, (ऊष्म का उच्चारण करता हुआ) वह तुझे उलटा पीसेगा' और यदि कोई इसे स्पर्शों में उलहना दे, तो वह उसे कहे 'मैं मृत्यु की शरण पड़ा था, (स्पर्शों का उच्चारण करता हुआ) वह तुझे उलटा भस्म करेगा' ॥ ४ ॥

सर्वे स्वरा घोषवन्तो बलवन्तो वक्तव्या इन्द्रेबलं ददानीति । सर्व ऊष्माणोऽग्रस्ता निरस्ता विवृता वक्तव्याः । प्रजापतेरात्मानं परिददानीति । सर्वे स्पर्शा लेशेनानभिनिहिता वक्तव्या मृत्योरात्मानं परि हराणीति ॥ ५ ॥

* सारे स्वर भरी हुई ध्वनि से और बल से उचारने चाहियें, इस तरह उद्गाता इन्द्र में बल दे देता है †, सारे ऊष्म न ग्रसे हुए न फैंके हुए किन्तु खुले हुए उचारने चाहियें, इस तरह उद्गाता प्रजापति को अपना आप समर्पण करता है । सारे स्पर्श धीरे २ एक दूसरे में न मिलाए हुए उचारने चाहिए, इस तरह उद्गाता (सन्तुष्ट हुए) मृत्यु से अपने आपको बचा लेता है ॥ ५ ॥

ताड़ना दी गई है, जिनका सारा घमण्ड उच्चारण पर है, और परमात्मा में कोई भक्ति नहीं ॥

* अक्षरों का उच्चारण भी ठीक होना चाहिये, इस के लिये शिक्षा देते हैं ॥ † अक्षरार्थ—इस बुद्धि से, कि मैं इन्द्र में बल दूं ।

तेईसवां खण्ड

त्रयो धर्मस्कन्धाः । यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमः ।१।

धर्म के तीन स्कन्ध (बड़े डाल) हैं। यज्ञ करना, पढ़ना (स्वाध्याय,) और दान देना यह पहला (स्कन्ध) * है ॥१॥

तपएव द्वितीयः, ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयो ऽत्यन्त मात्मानमाचार्यकुले ऽवसादयन् । सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति, ब्रह्म स ँ स्थोऽमृतत्वमेति ।२।

तप ही दूसरा है, ब्रह्मचारी बनकर अपने आप को सदा तपस्या से क्षीण करते हुए आचार्य के घर रहना तीसरा है † यह सारे (धर्मी) पुण्यलोकों को प्राप्त होते हैं, हां ब्रह्म संस्थ ‡ (ब्रह्म में दृढ निष्ठा वाला) अमृत को प्राप्त होता है ॥ २ ॥

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत् । तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी

---

* पहला, तीनों में से एक। क्योंकि ये धर्म गृहस्थ के हैं, और गृहस्थ आश्रमों में दूसरा है, न कि पहला ॥

† तप, वानप्रस्थ का धर्म है, सदा गुरु के घर में रहते हुए तप से अपने आप को क्षीण करना यह नैष्ठिक ब्रह्मचारी का धर्म है। ब्रह्मचारी दो प्रकार के हैं। उपकुर्वाणक और नैष्ठिक। उपकुर्वाणक जो समय पर ब्रह्मचर्य को समाप्त कर गुरुदक्षिणा दे कर गृहस्थ में प्रवेश करते हैं और नैष्ठिक जो सारी आयु ब्रह्मचर्य में विताते हैं ॥

‡ ब्रह्मसंस्थ से यहां चतुर्थाश्रमी संन्यासी अभिप्रेत है । ब्रह्मसंस्थ, ब्रह्म में दृढ़ निष्ठा वाला। ब्रह्म से यहां ओंकार अभिप्रेत है, जैसा कि उसी को आगे सब की निचोड बतलाया है। पहले तीनों आश्रमी जिन वैदिक कर्मों में रत हैं, जिनका कि फल पुण्यलोक हैं, संन्यासी उन कर्मों से ऊपर हो कर सारे वेदों के सार ओंकार में निष्ठा वाला हो कर अमृतत्त्व को पा लेता है ॥

विद्या सम्प्रास्रवत् । तामभ्यतपत्, अस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि सम्प्रास्रवन्त भूर्भुवः स्वारिति ॥३॥

प्रजापति ने लोकों को तपाया * जब वह तपे तो उन से त्रयी विद्या चूकर बही । उसने फिर उस (त्रयी विद्या) को तपाया, तो उस से तीन अक्षर चूकर बहे, भूः, भुवः, स्वः ॥३॥

तान्यभ्यतपत्, तेभ्योऽभितप्तेभ्य ओंकारः सम्प्रास्रवत् । तद्यथा शंकुना सर्वाणि पर्णानि सन्तृण्णानि, एव मोंकारेण सर्वा वाक् सन्तृण्णा । ओंकार एवेद ँ सर्वम्, ओंकार एवेद ँ सर्वम् ॥ ४ ॥

उसने फिर उनको तपाया, जब वह तपे, तो उनसे ओंकार चूकर बहा । जैसाकि नाळ से सारे पत्ते छिदे हुए हैं (नाल सारे पत्तों के अन्दर से होकर गई है,) इसी प्रकार ओंकार से सारी वाणी छिदी हुई है । ओंकार ही यह सब कुछ है, हां ओंकार ही यह सब कुछ है ।४।

चौबीसवां खण्ड

ब्रह्मवादिनो वदन्ति यद्वसूनां प्रातः सवनं ँ रुद्राणां माध्यन्दिन ँ सवनम्, आदित्यानां च विश्वेषाञ्च देवनां तृतीय ँ सवनम् ॥ १ ॥

---

* यहां तपाने से दो अभिप्राय हैं, एक तो जैसे किसी द्रव्य को तपाने से उस में से सार चू पड़ता है, इस तरह इन लोकों में से त्रयी विद्या सार है, उसका सार भूःभुवःस्वः और इनका सार ओम् है । दूसरा, जब कोई वस्तु तपती है, तो वह चमक उठती है, प्रदीप्त हो जाता है । इस प्रकार प्रजापति के लिये तीनों लोक प्रदीप्त हुए इन लोकों में कोई बात उसके लिये छिपी नहीं रही. उसने इन को सर्वांश में देखा, और इस में से त्रयी विद्याको सारके तौरपर निकाला

ब्रह्मवादी (वेद के उपदेष्टा) कहते हैं, कि प्रातःसवन तो वसुओं का है, माध्यन्दिनसवन रुद्रों का है और तृतीयसवन आदित्यों का और विश्वेदेवों का है* ॥१॥

क्व तर्हि यजमानस्य लोक इति । स यस्तं न विद्यात्, कथं कुर्यात्, अथ विद्वान् कुर्यात् ॥२॥

तो अब यजमान का लोक कहां† है ? वह जो उस (लोक) को नहीं जानता, वह (यज्ञ को) कैसे करसक्ता है ? हां यदि वह जानता है, तो करसक्ता है ॥ २ ॥

पुराप्रातरनुवाकस्योपाकरणाज्जघनेन गार्हपत्यस्योदङ्मुख उपविश्य स वासवꣳ सामाभि गायति॥३॥

‡ लो३ क द्वारमपावा३र्णू३३पश्येम त्वा वयꣳ

---

* तीन बार सोमका रस निचोड़ा जाता है, और उसकी आहुति दीजाती है, प्रातः मध्यन्दिन [दुपहर] और सायंकाल। इन तीनों को क्रमशः प्रातःसवन माध्यन्दिनसवन और तृतीयसवन कहते हैं। तीनों सवनों के देवता वसु रुद्र और आदित्य हैं, और छन्द-गायत्री त्रिष्टुप् और जगती हैं ॥

† प्रातःसवन के मालिक जो वसु हैं, पृथिवीलोक उनके वश में है, अन्तरिक्ष रुद्रों के और द्यौ आदित्यों और विश्वेदेवों के। अब यजमान के लिये कोई लोक रहा नहीं, जिसको वह यज्ञ से जीते और 'लोकाय वै यजते यो यजते' लोक के विजय के लिये वह यज्ञ करता है, जो कोई यज्ञ करता है, यह श्रुति है। इसलिये यह ज्ञान होना चाहिये कि इस उपाय से यजमान इन लोकों को जीतता है (शंकराचार्य)

‡ 'मन्त्र के अक्षर यह हैं 'लोकद्वारमपावृणु, पश्येम त्वा वयं राज्याय' ८वें प्रवाकमें 'वैराज्याय' ११वें प्रवाक में 'स्वाराज्याय, और सम्राज्याय' इन अन्त पदों के सिवाय सारे मन्त्र यही हैं ॥

रा ३२३३ हुं ३आ ३३ ज्या३यो३आ३२१११इति ॥४॥

प्रातरनुवाक*के प्रारम्भ से पहले यजमान गार्हपत्य अग्नि के पीछे उत्तराभिमुख बैठ कर वसुओं का साम गाता है, लोक(पृथिवी) के द्वार को खोलदे, हम तुझे (पृथिवी पर) राज्य करने के लिये देखें ॥ ४ ॥

अथ जुहोति 'मनोऽग्नये पृथिवीक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्देष वै यजमानस्य लोक एतास्मि'॥५॥

तब यजमान होम करता है (यह कहते हुए) नमस्कार हो अग्नि को, जो पृथिवी में रहता है, जो लोक में रहता है, (इस) लोक को मुझ यजमान के लिये लाभ कर; यह यजमान का लोक है ॥५॥

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहा । अपजहि परिघम्, इत्युक्त्वोत्तिष्ठति । तस्य वसवःप्रातःसवन ७ संप्रयच्छन्ति ॥ ६ ॥

मैं जो यजमान हूं, यहां आने वाला हूं, ज्यूंही यह आयु समाप्त होती है । स्वाहा ! (कहता हुआ आहुति देता है) । अर्गल † को परे हटा दे, यह कहकर वह खड़ा होता है । उस (यजमान) के लिये वसु प्रातःसवन दे देते हैं ॥६॥

---

* ऋचाओं का समुदाय जो गाया नहीं जाता, उसे शस्त्र कहते हैं, जो शस्त्र प्रातःकाल पढ़ा जाता है, उसे प्रातरनुवाक कहते हैं ॥

† लोक के द्वार का अर्गल । अर्गल=अरल, होड़ा, चटकनी, । वह लकड़ी जो द्वार को खुलने नहीं देती । यहां लोक से पृथिवीलोक अभिप्रेत है । और माध्यन्दिनसवन में लोक से अन्तरिक्ष लोक और तृतीय सवन में लोक से द्यौ लोक अभिप्रेत है ।

पुरा माध्यन्दिनस्य सवनस्योपाकारणाज्जघनेनाग्नी ध्रीयस्योदङ्मुख उपविश्य सरौद्रꣳसामाभिगायति ।७।

माध्यन्दिन सवन के प्रारम्भ से पहले यजमान आग्नीध्रीय अग्नि के पीछे बैठकर रुद्रों के साम को गाता है ॥ ७ ॥

लो ३ क द्वारमपावा ३र्णू ३३ पश्येम त्वा वयं वैरा ३३३३३ ३ आ ३ ३ ज्या ३ यो ३ आ ३ २११इति८

लोक (अन्तरिक्ष) के द्वार को खोल दे, हम (अन्तरिक्ष में) फैले हुए राज्य के पाने के लिये तुझे देखें ॥ ८ ॥

अथजुहोति-नमः वायवेऽन्तरिक्षक्षिते लोकक्षिते लोकं मे यजमानाय विन्दैष वै यजमानस्यलोक एतास्मि९।

तब वह होम करता है, जो लोक में रहता है, इस लोक (अन्तरिक्ष) को मुझ यजमान के लिये लाभ कर । यह यजमान का लोक है ॥९॥

अत्र यजमानः परस्तादायुषः स्वाहा ' अपजहि परिघम्' इत्युक्त्वोत्तिष्ठति । तस्मै रुद्रा माध्यन्दिनꣳ सवन ꣳ सम्प्रयच्छन्ति ॥१०॥

मैं जो यजमान हूं, यहां आने वाला हूं, जूंही यह आयु समाप्त होती है । स्वाहा । अर्गल को परे हटा दे । उसके लिये रुद्र माध्यन्दिन सवन दे देते हैं ॥ १० ॥

दङ्मुख उपविश्य स आदित्य ँ स वैश्वदेव ँ सामाभि गायति । ११ ।

तृतीतसवन के प्रारम्भ से पहले यजमान आहवनीय अग्नि के पीछे उत्तराभिमुख बैठकर आदित्यों का और विश्वदेवों का साम गाता है ॥ ११ ॥

लो३क द्वार मपावा३र्णू ३३ पश्येम त्वा वय ँ स्वारा ३३३३३ हुं ३ आ ३३ ज्या ३ यो ३ आ ३ २१११।१२।

लोक (द्यौ) के द्वार को खोलदे। हम तुझे स्वाराज्य (सब से ऊंचे राज्य स्वर्ग के राज्य) के लिये देखें— ॥ १२ ॥

आदित्यम् । अथ वैश्वदेवम् । लो ३क द्वारमपावा ३ र्णू ३३ पश्येम त्वा वय ँ साम्रा ३३३३ हुं ३३ ज्या ३यो ३ आ ३ २१११ इति । १३ ।

यह आदित्यों का (साम) है । अगला विश्वेदेवों का है 'लोक (द्यौ) के द्वार को खोलदे, हम तुझे साम्राज्य के लिये देखें' ॥ १३॥

अथजुहोति—नम आदित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्यो दिविक्षिद्भ्यो लोकक्षिद्भ्यो लोकं मे यजमानाय विन्दत । १४ ।

तब वह होम करता है (यह कहते हुए) नमस्कार हो आदित्यों को और विश्वदेवों को जो द्यौ में रहते हैं, लोक में रहते हैं। इस लोक (द्यौ) को मुझ यजमान के लिये लाभ करो ॥१४॥

एष वै यजमानस्य लोक एतास्म्यत्र यजमनः पर-

स्तादायुषः स्वाहाऽपहत परिघम्' इत्युक्त्वोत्तिष्ठति १५

यह यजमान का लोक है। मैं जो यजमान हूं यहां आने वाला हूं, जूही कि यह आयु समाप्त होती है। स्वाहा। अर्गल को परे हटा दो। यह कहकर वह उठ खड़ा होता है ॥ १५ ॥

तस्मा आदित्याश्च विश्वे च देवा स्तृतीय सवन ँ सम्प्रयच्छन्ति। एष ह वै यज्ञस्य मात्रां वेद, य एवं वेद य एवं वेद। १६।

उसको आदित्य और विश्वेदेव तृतीयसवन दे देते हैं, यह है जो यज्ञ के परिमाण (यथार्थता) को जानता है, जो इस रहस्य को समझता है, हां जो इस रहस्य को समझता है ॥१६॥

तीसरा प्रपाठक *

ॐ असौ वा आदित्यो देवमधु। तस्य द्यौरेव तिरश्चीनवंशो ऽन्तरिक्ष मपूपो मरीचयः पुत्राः ।१।

वह (द्यौ में स्थित) सूर्य देवताओं का मधु (शहद) है। द्यौ उस (मधु) का तिरछा बांस है, अन्तरिक्ष छत्ता है किरणें (किरणों में स्थित पानी, पानी की भाप) (-मक्खियों के) बच्चे हैं ।१।

तस्य ये प्राञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्राच्योमधुनाड्यः। ऋच एव मधुकृतः। ऋग्वेद एव पुष्पम्। ता अमृता आपः। ता वा एता ऋचः ॥२॥

* कर्मों (यज्ञों) के अंगों (उद्गीथ आदि) से सम्बन्ध रखने वाले विज्ञान को समाप्त करके सारे कर्मों का फल जो आदित्य है उसकी स्वतन्त्र उपासना के लिये नया प्रपाठक आरम्भ करते हैं।

उस (सूर्य) की जो पूर्व की किरणें हैं, वही इसकी पूर्व की मधु की नालियां हैं। ऋचा ही मक्खियां हैं। ऋग्वेद (से विहित कर्म) फूल है। पानी (सोम, आज्य और दूध की जो आहुति दी जाती है, वह पानी) (फूल का) अमृत है। उन ऋचाओं ने (जो मक्खियां हैं)—॥ २ ॥

एतमृग्वेद मभ्यतप ँ स्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रिय वीर्य मन्नाद्य ँ रसोऽजायत ॥ ३ ॥

इस ऋग्वेद (विहित कर्म को जो फूल है) तपाया, जब वह तपा, तो उस से यश, तेज, इन्द्रिय वीर्य, और अन्नाद्य * (स्वास्थ्य), यह रस उत्पन्न हुए ॥ ३ ॥

तद्व्यक्षरत् तदादित्य मभितोऽश्रयत् । तद्वा एतद् यदेतदादित्यस्य रोहित ँ रूपम् ॥४॥

वह (रस) बाहर झरने लगा, और उसने सूर्य का जा आश्रय लिया। और वह यह है, जो यह सूर्य का (उदय के समय) लाल रूप है ॥ ४ ॥

भाष्य—केवल कर्मी अपने फल भोग के लिये चन्द्रलोक को प्राप्त होते हैं, और जो साथही उपासक भी हैं, वह सूर्य लोग को यही देवयान है। जो इस गति को प्राप्त हुए हैं, वह सब देवता हैं। सूर्य उन सबके लिये मधु है आनन्द का हेतु है, क्योंकि वह सारे यज्ञों का परमफल है। द्यौ वह बांस है, जिस के साथ यह शहद का छत्ता लटक रहा है। अन्तरिक्ष छत्ता है और उसमें जो सूक्ष्म पानी भरा हुआ हैं, यह मक्खियों के अंडे हैं। सूर्य की

* अन्नाद्य, खाने की शक्ति, स्वास्थ्य। देखो ३। १३। १

किरणें उन अड़ों के लिये घर हैं. ऋचाएं यज्ञ के पूरा करने में जो एक अंग हैं,, वही यहां मधु मक्खियां हैं । वह फूल जिस में से यह मक्खियां अमृत चूसती हैं, वह यज्ञ (ऋग्वेद विहित होता का कर्म) है, और उस यज्ञ में जो कुछ होमा जाता है, वह इस फूल का अमृत है. जिसको वह चूसती हैं । फूल जब मक्खियों से चूसा गया, तो उसमें से रस झरा । वह रस जो सारे यज्ञों से सम्बन्ध रखता है, वह उस लोक वा सूर्य लोक में भोगा जाता है, इस लिये कहा गया है, कि उस रस ने सूर्य का जा आश्रय लिया ।

दूसरा खण्ड

अथ येऽस्यदाक्षिणा रश्मयस्ता एवास्य दाक्षिणा मधुनाड्यः । यजू ँ ष्येव मधुकृतः । यजुर्वेद एव-पुष्पं । ता अमृता आपः ॥ १ ॥

और जो इसकी दाक्षिण की किरणें हैं, वही इसकी दाक्षिण की मधु की नालियां हैं । यजुर्मन्त्र ही मक्खियां हैं । यजुर्वेद (विहित कर्म) ही पुष्प हैं । पानी (सोम रस आदि) ही (फूल का) अमृत है ॥ १ ॥

तानि वा एतानि यजू ँ ष्येतं यजुर्वेदमभ्यतप ँ स्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्य ँ रसोऽजायत ॥ २ ॥

उन यजुर्मन्त्रों (मक्खियों) ने इस यजुर्वेद (विहित कर्म के फूल) को तपाया । जब वह तपा, तो उस से यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्य यह रस उत्पन्न हुआ ॥ २ ॥

तद्व्यक्षरत, तदादित्यमभितोऽश्रयत् । तद्वा एतद् यदेतदादित्यस्य शुक्ल ँ रूपम् ॥ ३ ॥

वह (रस) बाहर झरने लगा, और उसने सूर्य का जा आश्रय लिया । वह यह है, जो यह सूर्य का शुक्ल (श्वेत) रूप है ॥ ३ ॥

तीसरा खण्ड

अथ येऽस्य प्रत्यञ्चो रश्मयस्ता एवास्य प्रतीच्यो मधुनाड्यः सामान्येव मधुकृतः । सामवेद एव पुष्पं । ता अमृता आपः ॥ १ ॥

और जो इसकी पश्चिमी किरणें हैं, वही इसकी पश्चिमी मधु की नालियां हैं । सामवेद (विहित कर्म) ही पुष्प है । (सोम-आदि) जल ही इसका अमृत है ॥ १ ॥

तानि वा एतानि सामान्येत ँ सामवेदमभ्यतपन् तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रिय वीर्यमन्नाद्य ँ रसोऽजायत ॥ २ ॥

इन साम मन्त्रों (मक्खियों) ने इस यजुर्वेद (विहित कर्म) को तपाया, जब वह तपा, तो उस से यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्य रस उत्पन्न हुआ ॥ २ ॥

तद् व्यक्षरत्, तदादित्य मभितोऽश्रयत् । तद्वा एतद् यदेतदादित्यस्य कृष्ण ँ रूपम् ॥ ३ ॥

वह झरने लगा, और उस ने सूर्य का जा आश्रय लिया । वह यह है, जो यह सूर्य का काला रूप है ॥ ३ ॥

चौथा खण्ड

अथ येऽस्योदञ्चो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्यः । अथर्वाङ्गिरस एव मधुकृतः । इतिहास पुराणं पुष्पं । ता अमृता आपः ॥ १ ॥

और जो इसकी उत्तरी किरणें हैं, वह इसकी उत्तरी मधु की नालियां हैं। अथर्वाङ्गिरस् मन्त्र ही मक्खियां है। इति हास पुराण * फूल हैं। (सोम आदि) जल अमृत है ॥ १ ॥

ते वा एतेऽथर्वांगिरस एतदितिहासपुराण मभ्यतपन्त्स्याभि तप्तस्य यशस्तेजइन्द्रियं वीर्य मन्नाद्यꣳ रसोऽजायत ॥ २ ॥

उन अथर्वाङ्गिरस् मन्त्रों (मक्खियों) ने इस इतिहास पुराण को तपाया। जब वह तपा, तो उस से यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और अन्नाद्य रस उत्पन्न हुआ ॥ २ ॥

तद व्यक्षरत, तदादित्यमभितो ऽश्रयत्। तद्वा एतद्, यदेतदादित्यस्य परः कृष्णꣳ रूपम् ॥ ३ ॥

वह झरने लगा, और उसने सूर्य का जा आश्रय लिया। वह यह है, जो सूर्य का अत्यन्त काला रूप है ॥ ३ ॥

पांचवां खण्ड

अथ येऽस्योर्ध्वा रश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा मधुनाड्यः गुह्याएवादेशा मधुकृतः। ब्रह्मैवपुष्पं। ता अमृताआपः।

और जो इसकी ऊपर की किरणें हैं, वही इसकी ऊपर की मधु की नालियां हैं। गुह्य आदेश (गुप्त विधियें—लोक द्वारमपावृणु, इत्यादि) ही मक्खियां हैं। ब्रह्म (ओ३म्) ही पुष्प है। (सोम आदि) जल ही अमृत है ॥ १ ॥

---

* अश्वमेध में पारिप्लव रात्रियों में इतिहासपुराण का सुनना लिखा है। वही यहां फूल है ॥

ते वा एते गुह्याआदेशा एतद् ब्रह्माभ्यतपन्, तस्याभि-
तप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्य मन्नाद्यꣳ रसोऽजायत२

उन गुह्य आदेशों ने इस ब्रह्म (ओम्) को तपाया। जब वह तपा, तो उससे यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य, अन्नाद्य, यह रस उत्पन्न हुआ ॥ २ ॥

तद व्यक्षरत् तदादित्यमभितोऽश्रयत् । तद्वाएतद्
यदेतदादित्यस्य मध्ये क्षोभत इव ॥ ३ ॥

वह झरने लगा, और उसने सूर्य का जा आश्रय लिया। वह यह है, जो यह सूर्य के मध्य में थरथराता सा दीखता है॥ ३ ॥

ते वा एते रसाना ꣳ रसाः, वेदा हि रसास्तेषा मेते
रसाः। तानि वा एतान्यमृतानाममृतानि, वेदाह्यमृता
स्तेषा मेतान्यमृतानि ॥ ४ ॥

यह (सूर्य के रोहित आदि रूप) रसों के रस हैं। क्योंकि वेद रस हैं (लोक में सार भूत वस्तु हैं) और यह (रोहित आदि रूप) उनके (वेद विहित कर्मों के) रस हैं। और यह अमृतों के अमृत हैं। क्योंकि वेद अमृत हैं, और यह उनके अमृत हैं ॥४॥

छठा खण्ड

तद् यत प्रथमममृतं, तद्वसव उपजीवन्त्यग्निना-
मुखेन। न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं
दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

जो यह पहला अमृत है (रोहितरूप) उसको वसु (प्रातः सवन के अधिपति) उपभोग करते हैं, जिन (वसुओं) में अग्नि

प्रधान है । देवता न खाते हैं, न पीते हैं, किन्तु इस अमृत को देखकर ही तृप्त होते हैं ॥ १ ॥

त एतदेवरूपमभिसं विशन्त्येतस्माद् रूपादुद्यन्ति २

वह इसी रूप (रोहित रूप) में ही प्रवेश करते हैं, और इस रूप से उदय होते हैं * (फिर बाहर निकलते हैं) ॥ २ ॥

स य एतदेवामृतं वेद, वसूनामेवैको भूत्वाऽग्निनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति । स एतदेवरूपमभिसं विशत्येतस्माद् रूपादुदेति ॥ ३ ॥

वह जो इसी अमृत को जानता है, वह वसुओं में से ही एक बनकर, अग्नि की प्रधानता से (में) ही इसी अमृत को देख कर तृप्त होता है, वह इसी रूप में प्रवेश करता है, और इस रूप से फिर उदय होता है ॥ ३ ॥

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता, पश्चादस्तमेता, वसूनामेव तावदाधिपत्यं स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

जितनी देर सूर्य पूर्व में उदय होता है, और पश्चिम में अस्त होता है, उतनी देर तक वह वसुओं के स्वतन्त्र राज्य को लाभ करता है † ॥ ४ ॥

---

* जब तक उनके भोग का अवसर नहीं आता, तबतक वह उस रूप में लीन रहते हैं, और जब उनके भोग का अवसर आता है, तो वह इसरूप से उदयहोतेहै अर्थात् उत्साह वाले होते है शंकराचार्य)

† अक्षरार्थ—आधिपत्य को स्वाराज्य को घेरता है । अर्थात् उस प्रभुता को अपने वश में करता है, जिसपर अपना स्वतन्त्रराज्य है ।

सातवां खण्ड

अथ यद् द्वितीयममृतं, तद् रुद्रा उद्जीवन्तीन्द्रेण मुखेन। न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

अब जो दूसरा अमृत है, उसको रुद्र उपभोग करते हैं, जिन में इन्द्र प्रधान है। देवता न खाते हैं, न पीते है, किन्तु इस अमृत को देखकर ही तृप्त होते है ॥ १ ॥

त एतदेव रूपमभि संविशन्त्येतस्माद् रूपादुद्यन्ति २

वह इसी रूप में प्रवेश करते हैं, और इस रूपमे उदयहोते हैं।२

स य एतदेवममृतं वेद, रुद्राणामेवैको भूत्वेन्द्रणेव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति। स एतदेवरूपमभि संविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

वह जो इस प्रकार इस अमृत को जानता है वह रुद्रों में ही एक होकर इन्द्र की प्रधानता से ही इसी अमृत को देख कर तृप्त होता है, वह इसी रूप में प्रवेश करता है, और इस रूप से उदय होता है ॥३॥

स यावदादित्यः पुरस्तादुदेता पश्चादस्तमेता, द्विस्तावद् दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता, रुद्राणामेव तावदाधिपत्य ँ स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

जितनी देर तक सूर्य पूर्व मे उदय होकर पश्चिम में अस्त होता है, उससे दुगना काल दक्षिण से उदय होता है और उत्तर में अस्त होता है, उतनी देर तक वह रुद्रों के स्वतन्त्र राज्य को लाभ करता है ॥ ४ ॥

आठवाँ खण्ड।

अथ यत् तृतीय ममृतं तदादित्या उपजीवन्ति वरुणेन मुखेन। न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येत देवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥१॥

और जो तीसरा अमृत है, उसे आदित्य उपभोग करते हैं, जिन में वरुण प्रधान है। देवता न खाते हैं, न पीते हैं, किन्तु इस अमृत को देख कर ही तृप्त होते हैं ॥१॥

त एतदेवरूपमभिसंविशन्त्येतस्माद् रूपादुद्यन्ति ।२।

वह इसी रूपमें प्रवेश करतेहैं और इसरूपसे उदय होते हैं ॥२॥

स य एतदेव ममृतं वेद, आदित्या ना मेवैको भूत्वा वरुणेनेव मुखेनैतदेवा मृतं दृष्ट्वा तृप्यति। स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद् रूपादुदेति ॥ ३ ॥

वह जो इस प्रकार इस अमृत को जानता है, वह आदित्यों में से एक हो कर वरुण की ही प्रधानता से इसी अमृत को देख कर तृप्त होता है। वह इसी रूप में प्रवेश करता है, और इस रूप से उदय होता है ॥ ३ ॥

स यावदादित्यो दक्षिणत उदेतोत्तरतोऽस्तमेता, द्विस्तावत् पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेता, ऽऽदित्यानामेव तावदाधिपत्यँ स्वाराज्यं पर्य्येता ॥ ४ ॥

सो जितनी देर तक सूर्य दक्षिण से उदय होता है; और उत्तर में अस्त होता है। उस से दुगना काल पश्चिम में उदय होता है और पूर्व में अस्त होता है, उतनी देर तक वह आदित्यों के स्वतन्त्र राज्य को लाभ करता है ॥४॥

नवां खण्ड ।

अथ यच्चतुर्थममृतं तन्मरुत उपजीवन्ति सोमेन मुखेन न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

और जो चौथा अमृत है, उसे मरुत् उपभोग करते हैं जिन में सोम प्रधान है । देवता न खाते हैं न पीते हैं किन्तु इस अमृत को देख कर ही तृप्त होते हैं ॥१॥

त एतदेव रूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ।२।

वह इसी रूप में प्रवेश करते हैं, और इस रूप से उदय होते हैं ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेद, मरुतामेवैकोभूत्वा सोमेनैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति । स एतदेव रूपमभिसंविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

वह जो इस प्रकार इस अमृत को जानता है वह मरुतों में से ही एक बन कर सोम की ही प्रधानता से इसी अमृत को देख कर तृप्त होता है । वह इसी रूप में प्रवेश करता है, और इस रूप से उदय होता है ॥३॥

स यावदादित्यः पश्चादुदेता पुरस्तादस्तमेता, द्विस्तावदुत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्तमेता मरुतामेव तावदाधिपत्य ँ स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

सो जितनी देर तक सूर्य पश्चिम से उदय होता है, और पूर्व में अस्त होता है, उससे दुगना काल उत्तर से उदय होता है

और दक्षिण में अस्त होता है, उतनी देर तक वह मरुतों के स्वतन्त्र राज्य को लाभ करता है ॥ ४ ॥

दसवां खण्ड ।

अथ यत् पञ्चमममृतं, तत्साध्या उपजीवन्ति ब्रह्मणा मुखेन । न वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवा मृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ॥ १ ॥

और जो पांचवां अमृत है, उसे साध्य उपभोग करते हैं जिन में ब्रह्मा प्रधान हैं। देवता न खाते हैं, न पीते हैं, किन्तु इस अमृत को देख कर ही तृप्त होते हैं ॥ १ ॥

त एतदेवरूपमभिसंविशन्त्येतस्माद्रूपादुद्यन्ति ॥२॥

वह इसी रूप में प्रवेश करते हैं, और इस रूप से उदय होते हैं ॥ २ ॥

स य एतदेवममृतं वेद, साध्यानामेवैको भूत्वा ब्रह्मणैव मुखेनैतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यति । स एतदेव रूपमभि संविशत्येतस्माद्रूपादुदेति ॥ ३ ॥

वह जो इस प्रकार इस अमृत को जानता है, वह साध्यों में से ही एक बन कर ब्रह्मा की ही प्रधानता से इसी अमृत को देख कर तृप्त होता है। वह इसी रूप में प्रवेश करता है, और इस रूप से उदय होता है ॥ ३ ॥

स यावदादित्य उत्तरत उदेता दक्षिणतोऽस्त मेता, द्विस्तावदूर्ध्वं उदेताऽर्वागस्तमेता, साध्यानामेव तावदाधिपत्यꣳ स्वाराज्यं पर्येता ॥ ४ ॥

सो जितनी देर तक सूर्य उत्तर से उदय होता है, और दक्षिण में अस्त होता है, उस से दुगना काल ऊपर उदय होता है और नीचे अस्त होता है, उतनी देर तक वह साध्यों के स्वतन्त्र राज्य को लाभ करता है ॥ ४ ॥

ग्यारहवां खण्ड

अथ तत ऊर्ध्व उदेत्य नैवोदेता नास्तमेतैकल एव मध्ये स्थाता । तदेष श्लोकः ॥ १ ॥

तब उससे ऊपर उदय होकर वह फिर न कभी उदय होगा न अस्त होगा । वह अकेला ही मध्य (केन्द्र) में खड़ा रहेगा । इस पर यह श्लोक है ॥ १ ॥

न वै तत्र न निम्लोच नोदियाय कदाचन ।
देवास्तेनाहꣳ सत्येन माविराधिषि ब्रह्मणेति ॥२॥

वहां न कभी उदय है न अस्त है । हे देवो ! मैं उस सत्य (एकरस) ब्रह्म से कभी परे न होऊं ॥ २ ॥

न हवा अस्मा उदेति, न निम्लोचति सकृद्दिवा हैवास्मै भवति, य एतामेव ब्रह्मोपनिषदं वेद ॥ ३ ॥

जो इस ब्रह्मोपनिषद् (वेद के रहस्यार्थ) को ठीक २ जानता है, उसके लिये न कभी उदय होता है, न अस्त होता है, उसके लिये एक वार ही दिन हो जाता है * (हमेशह का दिन चढ़ जाता है) ॥ ३ ॥

* देखो छान्दो उ० ८ । ४ । २ ॥

तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच, प्रजापतिर्मनवे, मनुः प्रजाभ्यः । तद्धैतदुद्दालकायारुणये ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रोवाच ॥ ४ ॥

यह (रहस्य, मधुविज्ञान) ब्रह्मा ने प्रजापति को बतलाया, प्रजापति ने मनु को, मनु ने अपनी सन्तान (इक्ष्वाकु आदि) को। अपने सब से बड़े पुत्र उद्दालक आरुणि को उसके पिता (अरुण)ने यह ब्रह्म (का रहस्य) बतलाया ॥ ४ ॥

इदं वाव तज्ज्येष्ठाय पुत्राय पिता ब्रह्म प्रब्रूयात् प्राणाय्याय वाऽन्तेवासिने ॥ ५ ॥

इसलिये यह ब्रह्म (का रहस्य) पिता अपने सब से बड़े पुत्र को बतलाए, वा योग्य शिष्य को ॥ ५ ॥

नान्यस्मै कस्मैचन, यद्यप्यस्मा इमामद्भिःपरिगृहीतां धनस्य पूर्णां दद्याद्,एतदेव ततो भूय इत्येतदेव ततो भूय इति ॥ ६ ॥

और किसी को नहीं, चाहे इसे वह पानियों से घिरी हुई यह (समुद्र पर्यन्त पृथिवी) धन की भरी हुई देवे, यही (रहस्य) उस से बढ़ कर है, हां, यही उससे बढ़कर है * । ॥ ६ ॥

---

*इन ग्यारह खण्डों का रहस्यार्थ हमारी पहुंच सेपरेहै। और सचमुच यह इतना महंगा रहस्यार्थ हमारी पहुंच से परे ही होना चाहियेथा। नहीं तो हम इसे बहुत थोड़े में बेचडालते।यहां हमेंखोल कर बतला दिया है, कि इसके पात्र वही हैं, जो सार्वभौम राज्य को इसके सामने तुच्छ समझते हैं। इसलिए हमें कोई शोक नहीं, यदि हम इसके पूरे रहस्य पर नहीं पहुंच सके। तथापि जो२बात समझ

बारहवां खण्ड

गायत्री वा इद ँ सर्वं भूतं, यदिदं किञ्च । वाग्वै गायत्री, वाग्वा इद ँ सर्वं गायति च त्रायते च ॥१॥

में आती है, इसको विवृत करते हैं । हम मनुष्य हैं, हमारे लिए यह लोक है,इस लोक में जो हमारे पास सार वस्तु है,वह वेद है, वैदिक जीवन द्वारा हम इस लोक में यश, तेज, इन्द्रिय, वीर्य और स्वास्थ्य को भोगते हैं । फिर इस जीवन का सार एक और जीवन है, जिसे हम सूर्य लोक में भोगते हैं ।

यहां वेदों का, दिशाओं का, सूर्य के रंगोंका, देवताओं का और उनमें एक प्रधान देवता का इनका कोई नियत सम्बन्ध है-जैसे

[१] ऋचा, ऋग्वेद, पूर्व, लालरूप, वसु, अग्नि ।(२ यजु,यजुर्वेद शुक्लरूप, रुद्र, इन्द्र, । (३ साम, सामवेद, पश्चिम, काला, आदित्य, दक्षिण,वरुण, ४] अथर्वाङ्गिरस्,इतिहास पुराण,उत्तर,बड़ाकाला,मरुत सोम[५] गुह्य आदेश, ओम्, ऊपर,मध्य, (केन्द्र) साध्य, ब्रह्मा ।

वसु, रुद्र,आदित्य,मरुत् और साध्य देवतागण हैं।वैदिक कर्मोंका करने वाला और इन रहस्यों का (जो यहां पूर्व कहे हैं)जानने वाला देवता बनकर उन्हीं में जा सम्मिलित होता है और वह इनके साथ उसी अमृत को भोगता है, जिसको यह देवता भोग रहे हैं । इनमें से प्रत्येक उपासना का फल एक दूसरे से बढ़कर है । पहले का जो भोगकाल है, दूसरे का उससे दुगुना और तीसरे का दूसरे से दुगुना है इत्यादि । सूर्यके अन्दर जो२ परिवर्तन होता है, उस२ को वह उपभोग करते हैं,यह पांचों शबल ब्रह्मके उपासक शबल ब्रह्मका उपभोग करते हैं । इसके ऊपर (उस से परे) एक और सूर्य है (येनें सूर्यस्तपति तेजसेद्धः) जिस से यह सूर्य तप रहा है । वह परब्रह्म शुद्धब्रह्म है। इस शबल से ऊपर चढ़कर जब वह इस शुद्ध के दर्शन करता है। तब उदय अस्त होना एक दम मिट जाता है और एक बार ही सदा के लिए दिन चढ़ जाता है ॥

गायत्री * सचमुच यह सारी हस्ती है, जो कुछ यह है। गायत्री वाणी है, क्योंकि वाणी इस सब को गाती है (गायति) और रक्षा करती है (त्रायते) † ॥ १ ॥

या वै सा गायत्री, इयं वाव सा येयं पृथिवी, अस्या ँ हीद ँ सर्वं भूतं प्रतिष्ठितमेतामेव नातिशीयते॥२॥

वह गायत्री यह पृथिवी है, क्योंकि इस में यह हर एक हस्ती सहारा लिये हुए है और इसे कभी नहीं उलांघती है ॥ २ ॥

या वै सा पृथिवी, इयं वाव सा, यदिदमस्मिन् पुरुषे शरीरम्, अस्मिन् हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥ ३ ॥

वह पृथिवी यह है, जो यह पुरुष में शरीर है; क्योंकि इस में यह सारे प्राण ‡ (जो वास्तव में हर एक हस्ती हैं) सहारा लिये हुए हैं और इसे कभी नहीं उलांघते हैं ॥ ३ ॥

यद्वै तत् पुरुषे शरीरम्, इदं वाव तद्; यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे हृदयम्, अस्मिन् हीमे प्राणाः प्रतिष्ठिता एतदेव नातिशीयन्ते ॥ ४ ॥

---

* गायत्री वैदिक छन्दों में से एक छन्द है, जो प्रायः बड़ी शक्ति वाला वर्णन किया है, इसके द्वारा ब्रह्म में चित्त लगाया जाता है, इस लिये यहां ब्रह्म को गायत्री के रूप में वर्णन किया है देखो वेदान्त १। १। २५॥

† गै और त्रा इन दोनों धातुओं से गायत्री बना है। गायत्री वाणी इसलिये है, कि वाणी सब को गाती है, वर्णन करती है, और भय से बचाती है।

‡ प्राण यहां पांच इन्द्रियों से अभिप्राय होसक्ता है, जैसा कि छान्दो० १। २। १; २। ७। १ में वर्णन किया है। वा पांच भीतरी वायुओं से अभिप्राय होसक्ता है, जैसा कि ३।१३।१ में वर्णन करेंगे।

अब यह जो पुरुष में शरीर है, वह यह पुरुष के अन्दर हृदय है, क्योंकि इस में यह सारे प्राण (जो वास्तव में हरएक हस्ती हैं) सहारा लिये हुए हैं और इस को कभी नहीं उलांघते हैं* ॥ ४ ॥

सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री । तदेतदृचाभ्यनूक्तम् ५

सो यह छःप्रकार की गायत्री चार पाद वाली है † । और यह ऋचा से भी कहा गया है (ऋग्वेद १० । ९० । ३) ५ ॥

तावानस्य महिमा ततो ज्यायाꣳश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवीति ॥६॥

इतनी इस [ब्रह्म जो गायत्री से सम्बद्ध है] की महिमा [विभूति] है, पुरुष [पूर्णब्रह्म] उससे बड़ा है । सारे भूत इसका एक पाद हैं । और तीन पाद वाला इसका अमर स्वरूप द्यौ अर्थात [अपने स्वरूप] में है ‡ ॥ ६ ॥

---

* गायत्री और पृथिवी में यह समता है,गायत्री प्राणों की रक्षा करने वाली है,और पृथिवी सब प्राणियों का आश्रय है । इसी तरह पृथिवी शरीर है, और शरीर हृदय है । इस तरह अन्त में गायत्री को हृदय के साथ एक किया गया है । और हृदयाकाश ब्रह्म है ।

† छः प्रकार की अर्थात् वाणी, भूत, पृथिवी, शरीर, प्राण और हृदय रूप । चार-पाद छः छः अक्षरों के, क्योंकि गायत्री चौबीस अक्षर का छन्द है (शंकराचार्य)

‡ पुरुष सूक्त में यह मन्त्र स्पष्ट ब्रह्म के वर्णन में है । और यहां भी हृदयाकाश से ब्रह्म का वर्णन है ।

यद्वै तद् ब्रह्मेति,इदं वाव तद्,योऽयं बहिर्द्धा पुरुषा दाकाशः। यो वै स बहिर्द्धा पुरुषादाकाशः ॥ ७ ॥

यह जो ब्रह्म है [जो अपने स्वरूप में तीन पाद से अमर वर्णन किया है, और गायत्री के रूप में वर्णन किया है,] यह वही है, जो पुरुष के बाहर आकाश है । और यह आकाश जो पुरुष के बाहर है—॥ ७ ॥

अयं वाव सः, योऽयमन्तः पुरुष आकाशः। यो वै सोऽन्तः पुरुष आकाशः ॥ ८ ॥

अयं वाव सः,योऽयमन्तर्हृदय आकाशः,तदेतत्पूर्ण मप्रवर्ति। पूर्णमप्रवर्तिनीं श्रियं लभते य एवं वेद ॥९

वह यही है, जो यह पुरुष के अन्दर आकाश है। और यह आकाश जो पुरुष के अन्दर है, वह यही है, जो यह हृदय में आकाश [ब्रह्म] है, जो सारे परिपूर्ण है और कभी बदलने वाला नहीं है। जो इसे जान लेता है, वह पूर्ण और न बदलने वाली श्री [खुशी] को लाभ करता है ॥ ८—९ ॥

तेरहवां खण्ड *

तस्य हवा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः। स योऽस्यप्राङ्सुषिः स प्राणः, तच्चक्षुः स आदित्यः।

---

* गायत्री द्वारा हृदयस्थ ब्रह्म की उपासना बतला कर अब जो उस हृदय के द्वारपाल हैं, उनका ध्यान और फल बतलाते हैं॥

तदेतत् तेजोऽन्नाद्यमित्युपासीत । तेजस्व्यन्नादो भवति, य एवं वेद ॥ १ ॥

उस हृदय के पांच छिद्र [द्वार] हैं, जो देवों [इन्द्रियों] से सम्बन्ध रखते हैं। जो इस का पूर्व द्वार है, वह प्राण है, वह आंख है, वह आदित्य [सूर्य] है †। इस को इस दृष्टि से उपासे कि यह तेज है और अन्नाद्य [स्वास्थ्य, आरोग्य] है। जो इस रहस्य को जानता है, वह तेजस्वी होता है और स्वस्थ [नीरोग] होता है।१।

अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानः, तच्छ्रोत्रं स चन्द्रमाः। तदेतच्छ्रीश्च यशश्चेत्युपासीत । श्रीमान् यशस्वी भवति, य एवं वेद ॥ २ ॥

जो इसका दक्षिणी द्वार है वह व्यान है, वह श्रोत्र है, वह चन्द्रमा है । उसको इस दृष्टि से उपासे कि यह श्री है और यश है । जो इस रहस्य को जानता है, वह श्री वाला और यश वाला होता है ॥ २ ॥

अथ योऽस्य प्रत्यङ् सुषिः सोऽपानः सा वाक् सोऽग्निः। तत् ब्रह्मवर्चस मन्नाद्य मित्युपासीत ।ब्रह्मवर्चस्यन्नादो भवति य एवं वेद । ३ ।

जो इसका पश्चिमी द्वार है, वह अपान है । वह वाणी है,

---

† यहां जो प्राण,चक्षु और आदित्य आदि का सम्बंन्ध दिखलाया है, ठीक ऐसा ही सम्बन्ध पांचवें प्रपाठक की समाप्ति में भी है ॥

वह अग्नि है । सो इसे इस दृष्टि से उपासे, कि यह ब्रह्मवर्चस और अन्नाद्य [आरोग्य] है । जो इस रहस्य को जानता है, वह ब्रह्मवर्चसी और अन्नाद (अरोग) होता है ॥ ३ ॥

अथ योऽस्योदङ्सुषिः स समानः, तन्मनः, सपर्जन्यः । तदेतत् कीर्तिश्च व्युष्टिश्चेत्युपासति । कीर्तिमान् व्युष्टिमान् भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

जो इसका उत्तरी द्वार है, वह समान है, वह मन है, वह पर्जन्य [मेघ] है । इसे इस दृष्टि से उपासे कि यह कीर्ति है और कान्ति [सौन्दर्य] है । जो इस रहस्य को जानता है, वह कीर्तिमान् और कान्तिमान् [सौन्दर्य्यवान्] होता है ॥ ४ ॥

अथ योऽस्योर्ध्वः सुषिः स उदानः स वायुः स आकाशः । तदेतदोजश्च महश्चेत्युपासीत । ओजस्वी महस्वान् भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥

जो इसका ऊपर का द्वार है, वह उदान है, वह वायु है, वह आकाश है । इसे इस दृष्टि से उपासे कि यह ओजस् [बल,दृढ़ता] है और महिमा है । जो इस रहस्य को जानता है, वह ओजस्वी और महिमा वाला होता है ॥ ५ ॥

ते वा एते पञ्च ब्रह्मपुरुषा स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपाः। स य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वार-

पान् वेद, अस्य कुले वीरो जायते; प्रतिपद्यते स्वर्गं-लोकं, य एतानेवं पञ्च ब्रह्मपुरुषान् स्वर्गस्य लोकस्य द्वारपान् वेद ॥ ६ ॥

यह पांच (हृदयस्थ) ब्रह्म के पुरुष हैं, जो स्वर्ग लोक (हार्द लोक) के द्वार पाल हैं। जो इन पांच ब्रह्मपुरुषों को स्वर्गलोक के द्वारपाल जानता है, उसके कुल में वीर पुरुष उत्पन्न होता है और स्वयं वह स्वर्ग लोक को प्राप्त होता है, जो इस प्रकार इन पांच ब्रह्म-पुरुषों को स्वर्गलोक के द्वारपाल जानता है ॥ ६ ॥

अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषुलोकेषु,इदं वाव तद्, यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषेज्योतिः । तस्यैषा दृष्टिः ।७।

अब वह ज्योति जो इस द्यौ के ऊपर चमकती है,सारे विश्व से ऊपर और हर एक से ऊपर, सब से ऊंचे लोकों में, और जिन से परे कोई ऊंचा नहीं है उन लोकों में (जो ब्रह्म ज्योति चमकती है), यही है, वह, जो यह यहां पुरुष के अन्दर ज्योति है । उस का यह दर्शन (प्रत्यक्षचिन्ह) है —॥ ७ ॥

यत्रैतदस्मिञ्छरीरे स ँ स्पर्शेनोष्णिमानं विजानाति । तस्यैषा श्रुतिः—यत्रैतत् कर्णावपिगृह्य निनदमिव नदथुरिवाग्नेरिव ज्वलत उपशृणोति । तदेतद्

दृष्टं च श्रुतं चेत्युपासीत, चक्षुष्यः श्रुतो भवति, य एवं वेद, य एवं वेद ॥ ८ ॥

अर्थात् जो छूने से इस शरीर में मनुष्य गर्मी प्रतीत करता है। और उस (ज्योति) की यह श्रुति (आवाज़) है, जो दोनों कान ढांप कर के (रथ की) ध्वनि की तरह, वा (बैल की) गर्ज की तरह, वा अग्नि के जलने की तरह (अपने कानों में ध्वनि) सुनता है। सो इस (शबलब्रह्म) को इस प्रकार उपासे, कि यह दृष्ट (देखा गया) है और श्रुत (सुनागया) है। वह दर्शनीय होता है और विख्यात होता है, जो इस प्रकार जानता है (उपासता है) हां जो इस प्रकार जानता है * ॥ ८ ॥

---

* सौर-जगत में सूर्य इस सारे जंगम और स्थावर का जीवन है, पर वस्तुतः सूर्य भी अपने अन्दर एक और सूर्य रखता है, जिस से उसका जीवन है और जिसकी ज्योति से वह चमकरहा है, वही ज्योति सारे विश्व से ऊंची है और सारे विश्व को घेरे हुए है, वह सारे विश्व का असली जीवन है। हां जीवन रूप मेंवह सर्वत्रप्रतीत होती है 'प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति' वह जिसकी महिमा इस सारे विश्व पर चमक रही है, हमारा जीवन भी उसकी महिमा से भरा हुआ है, हम बाहर ही क्या देखें, हमारे जीवन में क्या उस की थोड़ी महिमा है। यदि सूर्य में उस महती सत्ता के चिन्ह विद्यमान हैं, तो हमारे अंदर भी, हमारी बनावट में भी, हमारे जीवन में भी, उस के चिन्ह, बड़े स्पष्ट प्रकट हैं, क्योंकि वह जीवन का जीवन है, हमारे शरीर में जीवन का चिन्ह जो गर्मी है, और कान बंद करने से जो

चौदहवां खण्ड

सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो, यथाक्रतु रस्मिँल्लोके भवति, तथेतः प्रेत्य भवति। स क्रतुं कुर्वीत। १।

शान्त होकर इस दृश्य जगत पर यह ध्यान जमाना चाहिये, कि यह सब ब्रह्म है क्योंकि यह उस [ब्रह्म] से उत्पन्न हुआ है, उस में लीन होता है और उस में जीता है॥ *

अंदर से ध्वनि सुनाई देती है, और जो मृत्यु के निकट होने पर सुनाई नहीं देती, यह उसी ज्योति के चिन्ह हैं, जो इस यंत्रालय को चलारही है। हमारे अंदर के कारखाने में हमारा जीवन बनता रहता है, पर उसके विषय में हम कोरे अनभिज्ञ हैं,बनाने वाला कोई और है। यह उसी के सुप्रबन्ध का फल है, कि कारखाने को इन्धन की आवश्यकता होती है, तो हमें भूख लगआती है। नहीं तो हम इस कारखानें में केवल इन्धन झोंकने का काम जो देते हैं, इससेभी रह जाते। यह सुप्रबन्ध कहां से होरहा है, इस कारखाने को कौनचला रहा है। यह वही ज्योतिका ज्योति है, जो सबके ऊपर विराजता है औरं यहां तुम्हारे हृदय में विराजता है। अतएव इस चलते हुए कारखाने की आवाज जो इस में अनाहत शब्द होरहा है और अनवरत जारी है यह उसी की आवाज है। औरयह गर्मी जो तुम्हारे जीवित होने का चिन्ह है, उसी का चिन्ह है। यह कैसेअद्भुत प्रमाण हैं, जो हमारी हस्ती के अंदर उसकी हस्ती को सिद्ध करते हैं॥

वेदान्त १।१।२४—२७ सूत्रों में इस विषय पर विचार कर के यह सिद्धांत दिखलाया है, कि यहां ज्योति परब्रह्म से अभिप्राय है।

* तज्जलान्, तत्+ज+ल+अन्, तत् का सम्बन्ध ज ल अन् के साथ अलग २ है। तज्ज=उस से उत्पन्न होता है, तल्ल=उसमें लीन होता है, और तदन् उस में प्राण लेता है, जीता है॥

अब पुरुष क्रतुमय [अपनी इच्छा और विश्वास का बना हुआ] है । पुरुष जैसी इच्छाओं वाला इस लोक में होता है, वैसा ही वह आगे जा बनता है, जब वह यहां से चलदेता है ॥ इसलिये उसे यह इच्छा और विश्वास करना चाहिये कि ॥ १ ॥

मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः ॥ २ ॥

वह * मनोमय [विज्ञानमय] है, जिस का शरीर प्राण है, जिस का रूप प्रकाश है, जिसके संकल्प सच्चे हैं, जिस का स्वरूप आकाश की नाईं [व्यापक और अदृश्य] है, [अथवा आकाश जिस का शरीर है] सारे रस जिस के हैं, वह इस सब को घेरे हुए है, वह कभी बोलता नहीं है, वह बे परवाह है ॥ २ ॥

एष म आत्माऽन्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा । एष म आत्माऽन्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ॥ ३ ॥

यह मेरा आत्मा है, हृदय के अन्दर, धाई से छोटा है, जौ से छोटा है, सरसों से छोटा है, सिमाक (सवांक) से छोटा है, सिमाक के चावल से भी छोटा है ।

यह मेरा आत्मा है, हृदय के अन्दर, पृथिवी से बड़ा है, अन्तरिक्ष से बड़ा है, द्यौ से बड़ा है, इन सब लोकों से बड़ा है ॥ ३ ॥

* देखो शत० ब्र० १० । ६ । ३ । और बृह० उप० ५ । ६ । १

सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः, एष म आत्माऽन्तर्हृदय एतद्ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसम्भवितास्मीति यस्य स्यादद्धा न विचिकित्साऽस्तीति ह स्माह शाण्डिल्यः शाण्डिल्यः ४

सारे कर्म, सारी कामनाएं, सारे सुगन्ध और सारे रस उसके हैं, वह इस सबको घेरे हुए है, वह कभी बोलता नहीं, वह बे परवाह है। यह मेरा आत्मा है हृदय के अन्दर, यह ब्रह्म है, इसको मैं यहां से मर कर प्राप्त हूंगा ऐसा जिस का पूरा विश्वास है, और कोई संदेह नहीं (वह उसे पा लेता है) यह शाण्डिल्य*ने कहा है शाण्डिल्य ने कहा है ॥ ४ ॥

पन्द्रहवां खण्ड (कोशविज्ञान) †

अन्तरिक्षोदरः कोशो भूमिबुध्नो न जीर्यति । दिशो ह्यस्य स्रक्तयो द्यौरस्योत्तरं बिलम् । स एष कोशो वसुधानस्तस्मिन् विश्वमिदं श्रितम् ॥१॥

(‡ एक सन्दूक है) जिसका पेट अन्तरिक्ष है और पृथिवी

---

* इस खण्ड के विज्ञान को शाण्डिल्य विद्या कहते हैं-देखो वेदान्त ३ । ३ । १९ की व्याख्याएं ॥

† इस खण्ड(कोश विज्ञान,का आशय इस बातको प्रकट करना है, कि पूर्व ३।१३।६ में जो प्रतिज्ञा की है, 'कि इसके कुलमें वीर पुरुष जन्म लेता है, कोश विज्ञान उसके पूरा करने का साधन है ॥

‡ यह त्रिलोकी एक सन्दूक है. जिसका निचला तल पृथिवी है, ऊपर का ढकना द्यौ है, और पेट अन्तरिक्ष है। और मनुष्यों के कर्म साधन और फलों का खजाना इस में भरा हुआ है ।

इसका तल है, दिशाएं इसके कोणें हैं, द्यौ इसका ऊपर का ढकना है, यह कभी पुराना नहीं होता। यह सन्दूक धन का भण्डार है, इस में यह सारा विश्व आश्रय किए हुए है ॥१॥

तस्य प्राची दिग्जुहूर्नाम, सहमाना नाम दक्षिणा, राज्ञी नाम प्रतीची, सुभूता नामोदीची, तासां वायुर्वत्सः। स य एतमेवं वायुं दिशां वत्सं वेद, न पुत्ररोद ँ रोदिति सोऽहमेतमेवंवायुं दिशां वत्सं वेद, मा पुत्ररोद ँ रुदम्॥२

उसकी पूर्वा दिशा जुहू नाम है, दक्षिणा सहमाना नाम है, पश्चिमा राज्ञी नाम है, और उत्तरा सुभूता नाम है, * वायु इन दिशाओं का बछड़ा है †। वह जो इस प्रकार वायु को दिशाओं का बछड़ा जानता है, वह पुत्रों का रोना कभी नहीं रोता है [पुत्रों के मृत्यु को नहीं देखता, उसके पुत्र दीर्घायु होते हैं] सो मैं इस

---

* शंकराचार्य ने चारों दिशाओं के इन चारों नामों की यह व्याख्या की है—"कर्मी लोग पूर्व दिशा को मुख करके होम करते हैं, इस लिये यह जुहू कहलाती है। पापी जन अपने पाप कर्मों के फल को यमपुरी में, जो दक्षिण दिशा में है, सहारते हैं, इसलिये यह सहमाना है। पश्चिम दिशा राज्ञी इसलिये कहलाती है, कि उसका अधिष्ठाता राजा वरुण है, या इसलिये, कि संध्याकाल में इस दिशा का लाल रंग से सम्बन्ध होता है। उदीची दिशा सुभूता इसलिये कहलातीहै, कि उस में ऐश्वर्यवाले (भूतिमान्) ईश्वर कुवेर आदि रहते हैं"॥

† वायु दिशाओं से जन्मता है, दिशाओं से प्रकट होकर बहता है, अत एव पूर्व वायु, पश्चिमी वायु इत्यादि कहा जाता है, इस सम्बन्ध को लेकर वायु जो कि अमरणधर्मा है, उसे दिशाओं का बछड़ा चिन्तन करे॥

वायु को इस प्रकार दिशाओं का बछड़ा जानता हूं' मैं कभी पुत्रों का रोना न रोऊं ॥ २ ॥

अरिष्टं कोशं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना, प्राणं प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना, भूः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना, भुवः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना, स्वः प्रपद्येऽमुनाऽमुनाऽमुना, स यदवोचम् 'प्राणं प्रपद्ये' इति । प्राणो वा इदꣳ सर्वं भूतं यदिदं किञ्च, तमेव तत्प्रापत्सि'।४।

* मैं अविनश्वर कोश (सन्दूक) को प्राप्त होता हूं अमुक से अमुक से अमुक से (अमुना=अमुक की जगह पुत्र वा पुत्रों का नाम उच्चारण करे)। 'मैं प्राण (जीवन) को प्राप्त होता हूं अमुक से अमुक से अमुक से । मैं भूः को प्राप्त होता हूं अमुक से अमुक से अमुक से' । 'मैं भुवः को प्राप्त होता हूं अमुक से अमुक से अमुक से, 'मैं स्वः को प्राप्त होता हूं अमुक से अमुक से अमुक से' ॥ ३ ॥

'जो मैंने कहा है 'मैं प्राण को प्राप्त होता हूं; यहां प्राण के अर्थ हैं, यह सब भूत (सारी हस्ती) जो कुछ यहां है—उसी (प्राण जो हरएक हस्ती है) को प्राप्त होता हूं ' ॥ ४ ॥

---

* पुत्रकी दीर्घ आयु चाहने वाला त्रैलोक्य को कोश (सन्दूक) उसकी चारों दिशाओं को भिन्न२ नामवाली, और चारों दिशाओं को स्त्रीत्व कल्पना करके वायु को उनका न मरने वाला बछड़ा चिन्तन कर इस प्रकार प्रधान उपासना कहदी है, अब उसका अंग जो जप है, वह दिखलाते हैं 'अरिष्टं' इत्यादि से आनन्दगिरि)

अथ यदवोचम् 'भूः प्रपद्ये' इति । पृथिवीं प्रपद्येऽन्तरिक्षं प्रपद्ये दिवं प्रपद्य इत्येव तदवोचम् ।५।

'जो मैंने कहा है 'मैं भूः को प्राप्त होता हूं' तो मैंने यह कहा है, मैं पृथिवी को अन्तरिक्ष को और द्यौ को प्राप्त होता हूं' ॥ ५ ॥

अथ यदवोचम् 'भुवःप्रपद्ये' इति । अग्निं प्रपद्ये वायुं प्रपद्य आदित्यं प्रपद्य इत्येव तदवोचम् ॥ ६ ॥

'जो मैंने कहा है "मैं भुवः को प्राप्त होता हूं" तो मैंने यह कहा है, 'मैं अग्नि को, वायु को, और आदित्य को प्राप्त होता हूं ॥ ६ ॥

अथ यदवोचं 'स्वःप्रपद्ये' इति । ऋग्वेदं प्रपद्ये, यजुर्वेदं प्रपद्ये सामवेदं प्रपद्य इत्येव तदवोचं तदवोचम्।७।

'जो मैंने कहा है "मैं स्वः को प्राप्त होता हूं" तो मैंने यह कहा है, मैं ऋग्वेद को, यजुर्वेद को, सामवेद को प्राप्त होता हूं, हां यह मैंने कहा है ॥ ७ ॥

सोलहवां खण्ड *

पुरुषो वाव यज्ञः, तस्य यानि चतुर्विंशति वर्षाणि

---

* पूर्व खण्ड (कोश विज्ञान) में पुत्र के दीर्घजीवी होने का उपाय बतलाया है, इस खण्ड (पुरुष यज्ञ) में अपने दीर्घ जीवन के लिये उपाय बतलाते हैं। उपाय यह है, कि पुरुष अपने आपको यज्ञ समझे और यज्ञ रूप ही बनाए। उसकी यह दृढ़ इच्छा हो, कि मैं इस जीवन को यज्ञरूप बनाऊंगा, और इस पुरुष यज्ञ को तीनों सवनों में पूर्ण करूंगा। यह पुरुष जिस प्रकार सोम यज्ञ के ठीक सदृश है, वह सब कुछ यहां दिखलाया गया है॥

तत्प्रातः सवनं । चतुर्विं ँ शत्यक्षरा गायत्री, गायत्रं, प्रातः सवनं । तदस्य वसवोऽन्वायत्ताः । प्राणा वाव वसवः, एते हीद ँ सर्वं वासयन्ति ॥ १ ॥

पुरुष यज्ञ है । उसके जो (पहले) चौवीस वरस हैं, वह प्रातः सवन है । गायत्री छन्द चौवीस अक्षर का होता है, और प्रातः सवन गायत्र है (गायत्री छन्दों से पूरा किया जाता है) इस (यज्ञ) के उस (भाग, प्रातः सवन) से वसु सम्बन्ध रखते हैं । प्राण (इन्द्रिय) (यहां पुरुषयज्ञ में) वसु हैं, क्योंकि यह ही इस (सब प्राणि मात्र) को वसाते हैं (वासयन्ति) । (देह में प्राणों के वसते हुए ही सब जीव जीवित हैं) ॥ १ ॥

तञ्चेदेतास्मिन्न वयसि किञ्चिदुपतपेत्,सब्रूयात्, प्राणा वसवः ! इदं मे प्रातः सवनं माध्यन्दिन ँ सवनमनु सन्तनुतेति माहं प्राणानां वसूनां मध्ये यज्ञो विलोप्सी येति । उद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥ २ ॥

यदि कोई (रोगादि) इस (पहिली) आयु में उसे तपाए (तंग करे), तो वह कहे हे प्राणो—वसुओ ! मेरे इस प्रातः सवन को माध्यन्दिन सवन तक फैलाओ, जिससे कि तुम जो प्राण हो वसु हो,तुम्हारे मध्य में,मैं जो यज्ञ हूं, मत लुप्त होजाऊं । इस प्रकार वह निःसंदेह उससे (रोगसे) ऊपर चढ़जाता है और नीरोग होता है॥२

अथ यानि चतुश्चत्वारिꣳ शद्वर्षाणि, तन्माध्यन्दिनꣳ सवनं । चतुश्चत्वारिꣳ शदक्षरा त्रिष्टुप् त्रैष्टुभं माध्यन्दिनꣳ सवनं । तदस्य रुद्रा अन्वायत्ताः । प्राणा वाव रुद्रा एते हीदꣳ सर्वꣳ रोदयन्ति ॥३॥

अब (उस से आगे) जो चवालीस बरस हैं, वह माध्यन्दिन सवन है । त्रिष्टुप् छन्द चवालीस अक्षर का है, और माध्यन्दिन सवन त्रैष्टुभ है (त्रिष्टुप् छन्दों से किया जाता है) । इस(यज्ञ) के उस (भाग-माध्यन्दिन सवन) से रुद्र सम्बन्ध रखते हैं । प्राण ही (इन्द्रिय) ही (यहां पुरुष यज्ञ में) रुद्र हैं, क्योंकि यह इस सब को रुलाते हैं * (रोदयन्ति) ॥ ३ ॥

तञ्चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत्, सब्रूयात् 'प्राणाः रुद्राः । इदं मे माध्यन्दिनꣳ सवनं तृतीयसवनमनुसन्तनुतेति । माऽहं प्राणानाꣳ रुद्राणां मध्ये यज्ञोविलोप्सीयेति । उद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ।४।

यदि कोई (रोग आदि) इस (दूसरी) आयु में उसे तपाए, तो वह कहे—' हे प्राणो रुद्रो ! मेरे इस माध्यन्दिन सवन को तृतीय सवन तक फैलाओ, ताकि तुम जो प्राण हो रुद्र हो, तुम्हारे मध्य में मैं जो यज्ञ हूं, मत लुप्त होजाऊं । इस प्रकार वह निःसंदेह ऊपर चढ़ जाता है (आराम पाता है) और नीरोग होजाता है ॥४॥

अथ यान्यष्टचत्वारिꣳ शद्वर्षाणि, तत् तृतीयसवनं । अष्टचत्वारिꣳ शदक्षरा जगती, जागतं

*मध्य की आयु में प्राण क्रूर होते हैं, इसलिये रुद्र हैं ॥ (शंकराचार्य)

तृतीयसवनं । तदस्यादित्या अन्वायत्ताः । प्राणा वावादित्या एते हीद ँ सर्व माददते ॥५॥

अब (उससे आगे) जो अड़तालीस बरस हैं, वह तृतीय (तीसरा) सवन है । जगती छन्द अड़तालीस अक्षर का है, और तृतीय सवन जागत है (जगती छन्दों से किया जाता है)। इस (यज्ञ) के उस (भाग,तृतीय सवन) से आदित्य सम्बन्ध रखते हैं। प्राण (इन्द्रिय) ही (यहां पुरुष यज्ञ में) आदित्य हैं, क्योंकि यह इस सब को ग्रहण करते हैं * ॥ ५ ॥

तञ्चेदेतस्मिन् वयसि किञ्चिदुपतपेत्, स ब्रूयात् 'प्राणा आदित्याः ! इदं मे तृतीय सवन मायुरनु सन्तनुतेति । माहं प्राणानामादित्यानां मध्ये यज्ञो विलोप्सीयेति । उद्धैव तत एत्यगदो ह भवति ॥६॥

यदि कोई (रोग आदि) इस (तीसरी) आयु में उसे तपाए, तो वह कहे । हे प्राणो आदित्यो ! इस मेरे तीसरे सवन को आयु तक (११६ वरस तक) फैलाओ (यज्ञ को समाप्त करो) जिससे कि तुम जो प्राण हो आदित्य हो, तुम्हारे मध्य में मैं जो यज्ञ हूं, मत लुप्त होजाऊं, इस प्रकार वह निःसंदेह उस (रोग) से ऊपर चढ़ता है, और नीरोग होजाता है ॥६॥

एतद्धस्म वै तद्विद्वानाह महीदास ऐतरेयः । 'स किं म एतदुपतपसि, योऽहमनेन न प्रेष्यामीति' स

---

* शब्दादि विषय को ग्रहण करते हैं, (शंकराचार्य्य) अथवा इस सब को संभाले हुए हैं ॥

ह षोडशं वर्षशतमजीवत् । प्र ह षोडशं वर्षशतं जीवाति, य एवं वेद ॥७॥

महीदास ऐतरेय (इतरा का पुत्र) जो इस (रहस्य) का जानने वाला था, उसने कहा (रोग का सम्बोधन करके) 'तू क्या यह मुझे तपाता है, मैं इससे नहीं मरूंगा ?' वह एक सौ सोलह बरस (अर्थात् २४+४४+४८) जीता रहा । (और भी) जो (कोई) ऐसा जानता है (ऐसे निश्चय वाला है) वह एक सौ सोलह बरस जीता है * ॥७॥

भाष्य–इस खण्ड का अभिप्राय यह है, कि दीर्घ जीवी होनेके लिए मनुष्य का दृढ़ निश्चय होना चाहिए, और साथ ही उसे अपने जीवन को एक परोपकार की कड़ी में परो देना चाहिए, यही अपने आपको यज्ञरूप बनाना है । यही इसके आरम्भ में कहा है 'पुरुषो वाव यज्ञः' । सोमयज्ञ के तीन सवन होते हैं, प्रातः सवन, मध्यन्दिन सवन और तृतीय सवन, ऐसे ही पुरुष को भी अपने जीवितकाल के तीन सवन मानने चाहिये । विधियज्ञ में पहला प्रातःसवन है, उसमें गायत्री छन्द का प्रयोग होता है, गायत्री छन्द चौबीस अक्षर का है । सो पुरुष को अपनी आयु के पहले चौबीस वर्ष प्रातःसवन मानना चाहिये । विधियज्ञ में प्रातःसवन के मालिक वसु हैं, सो पुरुषयज्ञ में प्राण (इन्द्रिय) वसु कहलाते हैं । यदि इस † प्रातःसवन (२४ वर्ष) में कोई रोग उसे

---

*यज्ञ के तीन सवन और उनके देवता आदि के विषय में देखो, छान्दोग्य० २।२४।१। छन्दों के सम्बन्ध में देखो, शत० ब्रा० ४।२।२० ॥

† पुरुष यज्ञ में रुद्र और आदित्य भी प्राण ही हैं, जो माध्यन्दिन सवन और तृतीय सवन के मालिक हैं ॥

सताए (अर्थात् यज्ञ में विघ्न होता दीखे) तो वह दृढ निश्चय से प्राणों को कहे, हे प्राणो तुम इस यज्ञ में वसु हो, प्रातःसवन के के मालिक हो, इसकी रक्षा करना तुम्हारा काम है। तुम अपने सवन के रक्षक बनो, विघ्न को दूर हटाओ, और इस सवन को दूसरे सवन के साथ मिलादो। ऐसा दृढ़ विश्वास उसके लिये अवश्य कल्याणकारी होता है, क्योंकि 'क्रतुमयः पुरुषः' पुरुष क्रतुमय है (छान्दो० ३।१४।१)

अब विधियज्ञ में प्रातःसवन के पीछे दूसरा माध्यंदिन सवन आरम्भ होता है, इसमें त्रिष्टुप छन्द का प्रयोग होता है। त्रिष्टुप छन्द चवालीस अक्षर का है। सो पुरुष को भी अपनेपहलेचौवीस बरस प्रातःसवन के भोग कर उसके आगे चवालीस बरस अर्थात् अड़सठ बरस की आयुतक अपना माध्यन्दिनसवन मानना चाहिए इसी प्रकार अड़सठ के आगे और अड़तालिस बरसअर्थात्एकसौ सोलह बरस तक अपना तृतीयसवन मानना चाहिए। इनतीसरेसवन को पूर्ण करके यज्ञ पूर्ण होता है, जो अपने जीवन को यज्ञमय बनाकर दृढ़ विश्वास रखता है,कि अब उसके लिये कोई अपमृत्यु नहीं है, वह मृत्यु को दबाकर इस यज्ञ को अवश्य पूर्ण करेगा, सो यह विश्वास महीदास ऐतरेय ने अपने जीवन में सत्य कर दिखलाया है। यह मार्ग अब भी सबके लिये खुला है, जो चाहता है, वह चले, और उसका अमृतफल लाभ करे ॥

सत्तरहवां खण्ड *

स यदाशिशिषति, यत्पिपासति, यन्न रमते, ता अस्य दीक्षाः ॥१॥

---

* इस खण्ड का विषय पूर्व खण्ड के साथ एक है। यहां भी पुरुष और यज्ञ की तुल्यता दिखाई है ॥

वह [जो अपने आपको यज्ञ जानता है] जो भूखा होता है, जो प्यासा होता है, और जो रमण नहीं करता है (खुशियों से अलग रहता है), वह इसकी दीक्षा है * ॥ १ ॥

अथ यदश्नाति, यत्पिबति, यद् रमते, तदुपसदैरेति ।२

और जो खाता है, पीता है, और रमण करता है [खुशियें भोगता है] वह उसका उपसदों के बराबर है † ॥२॥

अथ यद्धसति, यज्जक्षति, यन्मैथुनं चरति, स्तुतशस्त्रैरेव तदेति ॥ ३ ॥

और जो वह हंसता है, खाता है, और मैथुन करता है, वह स्तुत–शस्त्रों के बराबर है ‡ ॥ ३ ॥

अथ यत् तपो दान मार्जवमहि ७ सा सत्यवचनमिति, ता अस्य दक्षिणाः ॥ ४ ॥

और जो तप, दान, सरलता, अहिंसा [दयाभाव] और सत्य वचन है, वह उसकी दक्षिणाएं हैं § ॥ ४ ॥

---

* भूख प्यास सहना, किसी मनभीष्ट की प्राप्ति से जो अप्रसन्नता होनी, इत्यादि प्रकार के जो क्लेश उठाने हैं, वह उसके लिये यज्ञ की दीक्षा के सदृश हैं ॥

† उपसद् के दिनों में यजमान को दूध पीने की आज्ञा है, इस लिये खाने पीने आदि के सुख को उपसदों से उपमा दी है ॥

‡ स्तुत जो ऋचाएं गाई जाती हैं, शस्त्र जो ऋग्वेदियों से पढ़ी जाती हैं ॥

§ यहां तक दीक्षा, उपसद्, स्तुत-शस्त्र और दक्षिणा ये यज्ञ के अंग पुरुष में दिखलाए हैं ॥

तस्मादाहुः सोष्यत्यसोष्टेति पुनरुत्पादनमेवास्य तन्, मरणमेवास्यावभृथः ॥ ५ ॥

इसलिये जब कहते हैं, 'सोष्यति' और 'असोष्ट' यह इसका नया जन्म है, * मरना ही अवभृथ है † ॥५॥

तद्धै तद् घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचाऽपिपास एव स बभूव । सोऽन्तवेलायामेतत् त्रयं प्रपद्येत । अक्षितमस्यच्युतमसि प्राणसꣳशितमसीति । तत्रैते द्वे ऋचौ भवतः ॥ ६ ॥

घोर आङ्गिरस [आङ्गिरसगोत्री] ने यह [यज्ञ का रहस्य] [अपने शिष्य] देवकी के पुत्र कृष्ण ‡ को उपदेश करके कहा—

---

* यहां शब्द में तुल्यता दिखलाई है 'सोष्यति' अर्थात् (सोमको) निचोडेगा । और जब निकालचुकता है, तो कहा जाता है 'असोष्ट' अर्थात् (रस) निचोड़ा गया है । सोम यज्ञ में इन दोनों के यह वास्तव अर्थ हैं, । पर 'सु-धातु' के रस निचोडना अर्थ भी हैं, और जन्म देना अर्थ भी हैं,इस लिये जब पुरुष का जन्म होना होता है, तब भी कहते हैं 'सोष्यति' (यह माता पुत्रको) जनेगी । और जन्म होने के पीछे कहते हैं 'असोष्ट' (उसने पुत्र) जन्मा है । यह दोनों शब्द जो यज्ञ में सोम की उत्पत्ति में बोले जाते हैं, वही पुरुष की उत्पत्ति में बोले जाते हैं, इसलिये पुरुष का जन्म सोमरस के बहने के सदृश है ॥

† अवभृथ,यज्ञ की समाप्ति का स्नान,यहां ११६ वर्ष की आयु से पुरुष यज्ञ को समाप्त करके जो उसका मरना है, वही अवभृथ है ॥

‡ "यहां देवकी का पुत्र कृष्ण" इतना-मात्र देखकर यह नहीं कह सक्ते, कि यह वही वसुदेव के पुत्र अर्जुन के सखा कृष्ण हैं । पिता पुत्र वा माता पुत्र वा दोनों भाइयों के एकसे नामों का मेल कई जगह

(जिसके कि सुनने से) उसे फिर कोई प्यास (कुछ और जानने की इच्छा) नहीं रही जब उसका (अपने आपको यह जानने वाले का) अन्त का समय हो, तो वह इन (तीन यजुओं) की शरण ले (इन तीन मन्त्रों का जप करे) "तू अविनाशि है" "तू न बदलने वाला है" "तू प्राण का तीक्ष्ण किया हुआ (सूक्ष्म तत्त्व) है" इस (विषय) पर यह दो ऋचा हैं ॥ ६ ॥

*आदित्प्रत्नस्य रेतसः "उद्वयं तमसस्परि ज्योतिः पश्यन्त उत्तर ँ स्वः पश्यन्त उत्तरम् । देवं देवत्रा सूर्य मगन्म ज्योतिरुत्तमम् ज्योतिरुत्तममिति ॥७॥

* तब वह(जगत के)पुराने बीज(सत्, आदित्यस्थ ब्रह्म)की ज्योति को देखते हैं, जो सर्वत्र व्याप्त है, सब से ऊंची है, जो द्यौ में चमकर ही है, (ऋग ८ । ६ । ३०)

पाया जाता है। और किसी टीकाकारने भी यहां घोर आङ्गिरस का शिष्य लिखने के सिवाय और इसके विषय में कुछ नहीं लिखा। और न ही इन प्राचीन उपनिषदों में वासुदेव कृष्णका कहीं नाम है। शाण्डिल्य सूत्रकार जिसे कृष्ण के विषय में श्रुति प्रमाण देने की बड़ी रुचि है, वह भी इस प्रमाण को उद्धृत नहीं करता, किन्तु नारायण उपनिषद् और अथर्व शिरस् इन नवीन उपनिषदों के प्रमाणों पर ही ठहर जाता है। सो यह घोर आङ्गिरस का शिष्य कृष्णवासुदेवकृष्णसे प्राचीन प्रतीत होता है, यद्यपि इसकी माता कानामभी देवकीही है।

* इसमें पहले मन्त्र की प्रतीक ही कही है। सारा मन्त्र यह है, आदित् प्रत्नस्य रेतसो ज्योतिः पश्यन्ति वासरम्। परो यदि ध्यातेदिवि इसका अर्थ पूरा ऊपर देदिया है। दूसरी ऋचा का पाठ ऋग्वेद १।५०।१० में 'ज्योतिः पश्यन्त उत्तरम्' की जगह यजुर्वेद २०। २१

'जो (अविद्याके) अन्धेरे से ऊपर है, ऊंची से ऊंची ज्योति है, 'जो ऊंचे से ऊंचा स्वर्ग है' देवों के मध्य में जो देव है; उस सूर्य को हम पहुंचे हैं, जो सब से ऊंची ज्योति है, हां सब से ऊंची ज्योति है [ऋग् १।५०।१०] ॥७॥

अठारहवां खण्ड

मनो ब्रह्मेत्युपासीते त्यध्यात्मम्। अथाधिदैवतम्, आकाशो ब्रह्मेति, उभयमादिष्टं भवत्यध्यात्मं चाधिदैवतं च ॥ १ ॥

मन * ब्रह्म है, यह उपासना करे, यह अध्यात्म (देह के सम्बन्ध में) है । और अधिदैवत (देवताओं के सम्बन्ध में) यह

में ' स्वःपश्यन्त उत्तरम्' है, और अथर्व वेद ७।५३। ७ में इसकी जगह 'रोहन्तो नाकमुत्तमम्' यह पाठ है। तात्पर्यांश तीनों में एक है। इसीलिये यहां 'ज्योतिः पश्यन्त उत्तरम्' । के आगे ' स्वःपश्यन्त उत्तरम् ' उसका अर्थ दिखलाया प्रतीत होता है। यहां आदित्यस्थ शबलब्रह्म (सत्य) का वर्णन है। शंकराचार्य की व्याख्या, ' स्वः ' के स्थान ' स्मः' पाठ को लेकर है, कि वही ज्योति हमारे हृदय में हैं ॥

* पूर्व ३।१४।२ में जो आत्मा के विषय में 'मनोमयः' और 'आकाशात्मा' कहा है। जिसका अभिप्राय यह है, कि मन उसकी महिमा को प्रकाशित करता है और आकाश उसकी महिमा दिखलाता है। यहां शरीर के अन्दर उसके महत्त्व को प्रकाशित करने वालों में से मनको लिया है,क्योंकि मन देहमें एक बड़ी दिव्य शक्ति है, और बाह्य जगत् में आकाश ही सब से बड़ा है। वहां यह आत्मा के महत्त्व में और कई विशेषणों के अन्दर यह भी दो (मनोमयःऔर आकाशात्मक) विशेषण हैं। यहां शबलरूप में इनकी स्वतंत्र उपासना बतलाई है : एक तो शरीर के अन्दर और दूसरी बाहर ॥

है कि आकाश ब्रह्म है (यह उपासना करे)। सो यह दोनों (उपासनाएं) उपदेश की गई हैं—अध्यात्म और अधिदैवत ॥१॥

तदेतच्चतुष्पाद् ब्रह्म। वाक् पादः, प्राणः पादः, चक्षुः पादः, श्रोत्रं पादः। इत्यध्यात्मम्। अथाधिदैवतम्—अग्निः पादो, वायुः पादः, आदित्यः पादो, दिशः पाद इति। उभयमेवादिष्टं भवत्यध्यात्मं चैवाधिदैवतं च ॥ २ ॥

यह ब्रह्म (मन वा आकाश) चार पाद वाला है। वाणी एक पाद है, प्राण (घ्राण) एक पाद है, नेत्र एक पाद है, श्रोत्र एक पाद है—यह अध्यात्म है। अब अधिदैवत(कहते हैं) अग्नि एक पाद है, वायु एक पाद है, सूर्य एक पाद है, दिशाएं एक पाद हैं * सो यह दोनों (उपासनाएं) उपदेश की गई हैं—अध्यात्म और अधिदैवत ॥ २ ॥

वागेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः, सोऽग्निना ज्योतिषा भाति च तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ॥ ३ ॥

वाणी ही ब्रह्म का चौथा पाद है। वह (पाद) अग्निरूप ज्योति से चमकता है, और तपता है †। वह जो इस प्रकार

---

* मन, घ्राण नेत्र और श्रोत्र द्वारा बाह्य विषयों में पहुंचता है, और वाणी द्वारा अपने अन्दर के भावों को बाहर (दूसरों तक) पहुंचाता है, इस लिए यह चार उसके पाद हैं, और अग्नि वायु, आदित्य और दिशाएं यह चारों आकाश के उदर से पाद की तरह लगे हुए हैं॥ † समष्टि में जो अग्नि,वायु,आदित्य और दिशाएं हैं,वही व्यष्टि में वाणी, घ्राण,नेत्र और श्रोत्र हैं, उन्हीं दिव्य शक्तियों से यह

जानता है (उपासता है) वह कीर्ति से, यश से, ब्रह्मवर्चस से चमकता है और तपता है ॥ ३ ॥

प्राण एव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः, स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च । भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ।४।

प्राण ही ब्रह्म का चौथा पाद है । वह वायुरूप ज्योति से चमकता है और तपता है । वह जो इस प्रकार जानता है, वह कीर्ति से, यश से, ब्रह्म वर्चस से चमकता है और तपता है ॥४॥

चक्षुरेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः,स आदित्येन ज्योतिषा भाति च तपति च। भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद । ५ । श्रोत्र मेव ब्रह्मणश्चतुर्थः पादः,स दिग्भि ज्योतिषा भाति च तपति च । भाति च तपति च कीर्त्या यशसा ब्रह्मवर्चसेन य एवं वेद ६

नेत्र ही ब्रह्म का चौथा पाद है, वह सूर्यरूपी ज्योति से चमकता है और तपता है, वह जो इस प्रकार जानता है, वह-कीर्ति से, यश से, ब्रह्मवर्चस से चमकता है और तपता है ॥ ५ ॥ श्रोत्र ही ब्रह्म का चौथा पाद है, वह दिशारूपी ज्योति से चमकता है और तपता है । वह जो इस प्रकार जानता है, वह कीर्ति से, यश से और ब्रह्मवर्चस से चमकता है और तपता है॥६॥

उन्नीसवां खण्ड ।

आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः, तस्योपव्याख्यानम् । असदेवेदमग्र आसीत् । तत्सदासीत् तदाण्डं निरवर्तत ।

क्योंकि शक्तियां चमकती हैं, और उन्हीं से गर्म रहती हैं (अपने काम में उत्साहवती रहती हैं) ॥

तत् संवत्सरस्य मात्रामशयत । तन्निरभिद्यत । ते आ-
ण्डकपाले रजतं च सुवर्णंचाभवताम् ॥ १ ॥

'सूर्य* ब्रह्म है' यह आदेश है और उसका यह पूरा व्याख्यान है, आरम्भ में यह असत्† ही था वह सत् (व्यक्त) हुआ, वह इकट्ठा हो गया (जम गया) वह एक अंडा‡ बन गया । वह (अंडा) एक वर्ष परिमाण लेटा रहा । (तब) वह फट गया (जैसे पक्षियों का अंडा फटता है) ; (तब) वह अंडे के दो कपाल (आधे टुकड़े) हुए, एक रुपहरी और दूसरा सुनहरी§ ॥ १ ॥

तद् यद् रजतꣳसेयं पृथ्वी, यत् सुवर्णꣳसा द्यौः, यज्जरायु ते पर्वताः यदुल्बꣳस मेघो नीहारः, या धमनयस्ता नद्यः यद् वास्तेयमुदकꣳस समुद्रः । २ ।

वह जो रुपहरी था, वह यह पृथ्वी है, और जो सुनहरी था, वह द्यौ है, जो जेर [मोटी झिल्ली] थी, वह पर्वत हैं, जो नीचे पतली झिल्ली

---

* सूर्य पहले आकाशब्रह्म के एकपाद के तौरपर कहा है, अब यहां यह साक्षात् ब्रह्म के रूप में स्वतन्त्र उपासना की जगह ठहराया है॥

† असत् से अभाव अभिप्रेत नहीं, किन्तु अव्यक्त नामरूप अभिप्रेत है। असत् से सत् का होना इसी उपनिषद् (६ । २ । १) में ज़ोर से खण्डन किया है । इस लिए जहां कहीं असत् से सत् का होना कहा है, वहां असत् से तात्पर्य अव्यक्त है, यहां यह सूर्य की प्रशंसा के लिए कहा है । जगत् के नाम रूप का प्रकट होना सूर्य के अधीन है, क्योंकि विना धूप अन्धेरे में सब कुछ अविज्ञात रहता है॥

‡ अण्ड शब्द की जगह आण्ड शब्द भी उपनिषदों के समय व्यवहृत था, दो बार यहां ही प्रयुक्त हुआ है, और ६।३।१ में भी है ।

§ मिलाओ-मनु १ । १३ और बृह० आर उप० १ । २ । ४ ॥

थी, वह मेघ और कुहर है, जो छोटी नाडियें थीं वह नदियां हैं, जो वस्ति [मूत्राशय] का पानी था, वह समुद्र है ॥ २ ॥

अथ यत्तदजायत सोऽसावादित्यः । तं जायमानं घोषा उलूलवोऽनूदतिष्ठन्त, सर्वाणि च भूतानि, सर्वे च कामाः, तस्मात् तस्योदयं प्रति प्रत्यायनं प्रति घोषा उलूलवोऽनुतिष्ठन्ति सर्वाणि च भूतानि सर्वे चैव कामाः ३

और वह जो उत्पन्न हुआ, (अण्डे में से निकला) वह सूर्य है। जब वह उत्पन्न हुआ, तो उलूलु * के घोष (नअरे) उठे, और सारे भूत (प्राणधारी, उठे) और सारी कामनाएं (प्राणियों की जरूरतें, उठीं=उत्पन्न हुईं) इस लिए सूर्य के उदय के लिए, वापिस आने के लिये † उलूलु के घोष उठते हैं और सारे प्राणधारी और कामनाएं उठती हैं ॥ ३ ॥

स य एतमेवं विद्वानादित्यं ब्रह्मेत्युपास्ते, अभ्याशो ह यदेनꣳ साधवो घोषा आ च गच्छेयुरुप च निम्रेडेरन् निम्रेडेरन् ॥ ४ ॥

वह जो इस (सूर्य) को इस प्रकार उपासता है, जल्दी

---

* उलूलु, वा उलूलव = उरूरु, वा उरुरव, ठीक यही शब्द है, जो इङ्गलिश में हुर्रा (Hurrah) है। आनन्दगिरि लिखता है 'उलूलव इत्युत्सवकालीन शब्द विशेषे प्रसिद्धः' उलूलव यह उत्सव काल (खुशी के मौके) के शब्द विशेष में प्रसिद्ध है ॥

† व्याख्याकारों ने इसका अर्थ अस्त होने पर भी लिखा है, पर इस अर्थ में 'प्रत्ययन' शब्द होना चाहिये। 'प्रत्यायन' का अर्थ फिर वापिस आना ही समुचित है, जो यहां उदय को स्पष्ट करता है और यही उत्सव का काल है ॥

हां उसके पास साधु ध्वनियें (नेक ध्वनियें) आएंगी और उसे झुक देंगी हां झुक देंगी ॥ ४ ॥

चौथा प्रपाठक (पहला खण्ड) *

ॐ जानश्रुतिर्ह पौत्रायणः श्रद्धादेयो बहुदायी बहुपाक्य आस। सह सर्वत आवसथान् मापयाञ्चक्रे, सर्वत एव मेऽत्स्यन्तीति ।१।

जान श्रुति पौत्रायण † श्रद्धा से देने वाला, बड़ा उदार हुआ है, जिसका घर अतिथियों के लिये सदा खुला था। उसने हर एक जगह रहने के घर (टिकाने, धर्मशालाएं) बनवाए, इसलिये कि हर एक जगह (यात्री) मेरा अन्न खाएंगे ॥ १ ॥

अथ ह हꣳसा निशायामतिपेतुः, तद्धैवꣳ हꣳ सो हंꣳ समभ्युवाद-'हो हो यि भल्लाक्ष ! भल्लाक्ष ! जानश्रुतेः पौत्रायणस्य समं दिवा ज्योति राततं । तन्मा प्रसाङ्क्षीः, तन्मा प्रधाक्षीरिति ।२।

एक बार रात्रि को कुछ हंस ‡ (उसके घर के ऊपर से) उड़ते हुए गए, और तब एक हंस ने दूसरे हंस को इस प्रकार कहा

---

* पूर्व वायु और प्राण ब्रह्म के पाद के तौर पर आए हैं, यहां अबलरूप में उनकी स्वतन्त्र उपासना है ॥

† जानश्रुति=जनश्रुत की सन्तान, पौत्रायण=पोते का पुत्र अर्थात् जनश्रुत का प्रपोता ॥

‡ इसका तत्त्व (असलीयत) हमारे लिये अभी चिन्तनीय है। शंकराचार्य लिखते हैं कि राजा के अन्नदान आदि गुणों से प्रसन्न होकर देवता वा ऋषि हंस-का रूप धारकर उसके दर्शन गोचर हुए ॥

'हो हो ! भल्लाक्ष भल्लाक्ष ! (मन्ददृष्टि !) जानश्रुति पौत्रायण की ज्योति (धर्म का तेज)द्यौ की तरह फैला हुआ है । उस (ज्योति) के ऊपर से मत उलांघो, न हो कि वह तुझे जला दे' ॥ २ ॥

तमु ह परः प्रत्युवाच 'कम्वर एनमेतत्सन्तꣳ सयुग्वानमिव रैक्कमात्थेति'।'योनुकथꣳ सयुग्वा रैक्क इति'॥३॥

दूसरे ने उसे उत्तर दिया 'अरे माना यह एक योग्य राजा है, पर कौन है यह बेचारा, जिसको तुम सयुग्वा रैक्क की तरह बोलते हो *' (पहले ने पूछा) 'कैसा है वह सयुग्वा रैक्क, जिसके विषय में तुम कहते हो' ॥ ३ ॥

यथा कृतायविजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेनꣳ सर्वं तदभिसमेति, यत्किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति । यस्तद्वेद यत्स वेद । स मयैतदुक्त इति ।४।

(दूसरे ने उत्तर दिया) 'जैसे (जुए के खेल में) कृत अय† से जीतने पर निचले सारे अय उसी में आ जाते हैं, इसी प्रकार वह उसमें (रैक्क की नेकी में) आ जाता है, जो कुछ लोग नेकी करते हैं

---

* अर्थात् जो वचन सयुग्वा रैक्क के विषय में कहना चाहिये, वह तुम इसके विषय में बोलते हो । सयुग्वा=गाड़ी का मालिक जिसमें बैल या घोड़े जुते हुये हैं ॥

† भद्दे जिन पर फूल बने हुए होते हैं, उन्हें अय कहते हैं, वह फूल अलग २ एक, दो तीन और चार रहते हैं। इनको क्रम से कलि, द्वापर, त्रेता और कृत कहते हैं । कृत से सबको जीत लिया जाता है क्योंकि दूसरी सब उससे नीचे हैं उसके अन्तर्गत हैं। इसी प्रकार रैक्क में जो नेकी है, उससे दूसरी सारी नेकियें जीती जाती हैं ॥

(या उसकी नेकीमें)जो उसको जानता है, जिसको कि वह(रैक) जानता है। वह मैंने यह (इस आदर से) कहा है' ॥ ४ ॥

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायण उपशुश्राव, स ह सञ्जिहान एव क्षत्तार मुवाच 'अंगारे ह सयुग्वानमिव रैकमात्थेति' 'यो नु कथं सयुग्वा रैक' इति । ५ ।

जान श्रुति पौत्रायण ने यह (बात चीत) सुनी, और उसने (प्रातः) उठते ही क्षत्ता (द्वारपाल) को कहा 'प्यारे ! तू (मुझे) सयुग्वा रैक की तरह कहता है*(सयुग्वारैक की प्रशंसा तू मुझे देता है) (उसने कहा) 'कैसा है वह सयुग्वा रैक' ॥ ५ ॥

यथा कृतायविजितायाधरेयाः संयन्त्येवमेन ँ सर्वं तदभि समेति, यत् किञ्च प्रजाः साधु कुर्वन्ति । स यस्तद्वेद यत्स वेद । स मयैतदुक्त इति' ॥ ६ ॥

(राजा ने कहा) 'जैसे (जुए के खेलने में) कृत अय से जीतने पर निचले सारे अय उसी में आ जाते हैं, इसी प्रकार वह सब उसकी नेकी में आ जाती है, जो कुछ लोग नेकी करते हैं,(या इसकी नेकी में)जो उसको जानता है, जिसको कि वह जानता है। वह मैंने यह कहा है' ॥ ६ ॥

स ह क्षत्ता ऽन्विष्य 'नाविद मिति' प्रत्येयाय । तँ होवाच—'यत्रारे ब्राह्मण स्यान्वेषणा तदेनमर्च्छेति' ७

---

* क्षत्ता ने जो उसकी स्तुति की, तो उसने वही रात वाली बात उसे कहा। और क्षत्ता ने राजाका अभिप्राय जान कर रैक को ढूंढ लाया,जिससे कि राजा उसे जान जाए,जो कुछ कि रैक जानता है।

क्षत्ता उसे ढूंढने के लिये गया, और यह कहते हुए वापिस आया कि, मैंने उसे नहीं पाया' तब उसे (राजा ने) कहा 'अरे जहां किसी ब्राह्मण की ढूंढ होनी चाहिये (एकान्त स्थान में) वहां उसे ढूंढो ॥ ७ ॥

सोऽधस्ताच्छकटस्य पामानं कषमाणमुपोपविवेश । त ँ हाभ्युवाद 'त्वं नु भगवः सयुग्वारैक इति' 'अह ँ ह्यरा ३' इति ह प्रतिजज्ञे । स ह क्षत्ता अविदमिति प्रत्येयाय ॥ ८ ॥

अब वह (क्षत्ता) एक पुरुष के पास पहुंचा (जो) एक छकड़े के नीचे अपनी दाद को खाजिया रहा था, वह उसके पास बैठ गया और उसे कहा 'भगवन् ! क्या आप सयुग्वा रैक हैं' उसने कहा 'हां मैं हूं'। तब क्षत्ता वापिस आया और कहा 'मैंने उसे पा लिया है' ८॥

दूसरा खण्ड

तदु ह जानश्रुतिः पौत्रायणः षट्शतानि गवां निष्कमश्वतरीरथं तदादाय प्रतिचक्रमे । त ँ हाभ्युवाद ॥ १ ॥ रैक्केमानि 'षट्शतानि गवामयंनिष्कोऽयमश्वतरीरथो, ऽनु म एतां भगवो ! देवतां शाधि यां देवतामुपास्स इति' ॥ २ ॥

तब जान श्रुति पौत्रायण छः सौ गौएं, एक मोहरों का हार एक खच्चरों से युक्त रथ लेकर उसके पास आया, और कहा ॥ १ ॥

" रैक् यह छः सौ गौएं हैं, यह मोहरों का हार और यह खच्चरों समेत रथ है, हे भगवन् ! मुझे उस देवता का अनुशासन कीजिये, जिसे आप उपासते हैं " ॥ २ ॥

तमु ह परः प्रत्युवाच 'अह हारे त्वा शूद्र ! तवैव सहगोभिरस्त्विति' । तदुह पुनरेव जानश्रुतिःपौत्रायणः सहस्रं गवां निष्कमश्वतरीरथं दुहितरं तदादाय प्रतिचक्रमे ॥ ३ ॥

उसे दूसरे ने उत्तर दिया ' अह ! यह हार और गाड़ी गौओं के सहित हे शूद्र ! तेरा ही रहे' । तब जानश्रुतिपौत्रायण ने फिर एक हज़ार गौएं एक मोहरों का हार एक खच्चरों समेत रथ और एक निज कन्या इनको लिया और उसके पास पहुंचा ॥ ३ ॥

तꣳ हाभ्युवाद' रैक्वेदꣳ सहस्रं गवामयं निष्कोऽयमश्वतरीरथ इयं जायाऽयंग्रामो यस्मिन्नास्से, ऽन्वेव मां भगवः ! शाधीति' ॥ ४ ॥

और उसे कहा ' रैक यह हज़ार गौएं हैं, यह मोहरों का हार है, यह खच्चरों समेत रथ है, और यह पत्नी है, और यह ग्राम है, जिसमें तू रहता है । हे भगवन् ! मुझे उपदेश दो ॥ ४ ॥

तस्या ह मुखमुपोद्गृह्णन्नुवाच-' आजहारेमाः शूद्र! अनेनैवमुखेनालापयिष्यथा इति' । ते हैते रैक्वपर्णा नाम महावृषेषु यत्रास्मा उवास । तस्मैहोवाच॥५

उसने उस (कन्या) के मुख को ऊंचे उठाकर कहा 'तुम यह (गौएं और दूसरे उपहार) ले आए हो हे शूद्र ! पर केवल इस मुख से तुम मुझे बुलवाते हो *' सो यह रैक्वपर्ण ग्राम

---

* इनमें से कोई वस्तु मुझे उपदेश देने के लिये बाधित नहींकर सकी, केवल यह एक दर्शनरक्षा है, जिसका अनादर नहीं होसकता ।

महावृषों * में है, जहां (रैक) उसके लिये उसके (आधीन) † रहा । उसने उसे (राजा को) कहा ॥५॥

तीसरा खण्ड (संवर्गविद्या)

वायुर्वाव संवर्गः । यदा वाऽअग्निरुद्वायति, वायु मेवाप्येति ॥१॥

‡ वायु निःसंदेह संवर्ग § है । जब अग्नि बुझती है, तो वायु में लीन होती है । जब सूर्य अस्त होता है, वायु में लीन होता है (वायु मण्डल में छिपता है)जब चन्द्रमा अस्त होता है,वायुमें लीन होता है ॥१

यदाप उच्छुष्यन्ति वायुमेवापियन्ति वायुर्ह्येवै- तान् सर्वान् संवृङ्क्ते । इत्यधिदैवतम् ॥२॥

जब पानी सूखता है, वायु में लीन होता है । वायु ही निःसंदेह इन सब को चूसता है (खाजाता है, ज़ब्त कर लेता है), यह देवताओं के सम्बन्ध में है ॥ २ ॥

अथाध्यात्मम्, प्राणो वाव संवर्गः स यदा स्वपिति

---

* महावृष देश, अर्थ, महापुण्य ॥

† शंकराचार्य ने 'अस्मै' के साथ 'अदात्' अध्याहार करके यह अर्थ किया है 'राजा ने यह ग्राम उसे देदिये '

‡ अब रैक का उपदेश आरम्भ होता है,रैक ने अधिदैवत में वायु की और अध्यात्म में प्राण की यह दो शवल उपासना बतलाई हैं ॥

§ संवर्ग, खालेने वाला, अपने अन्दर मिलाने वाला, जज़्ब कर लेने वाला ॥

प्राणमेववागप्येति प्राणं चक्षुःप्राण ँ श्रोत्रंप्राणं मनः, प्राणो ह्येवैतान् सर्वान् संवृङ्क्ते इति ॥ ३ ॥

अब शरीर के सम्बन्ध में (कहते हैं)-प्राण निःसंदेह संवर्ग है। जब कोई मनुष्य सोता है, तो प्राण में ही उसकी वाणी लीन होती है, प्राण में नेत्र, प्राण में श्रोत्र, और प्राण में मन (लीन होता है) प्राण ही इन सब को चूसता है ॥ ३ ॥

तौ वा एतौद्वौ संवर्गौ,वायुरेव देवेषु,प्राणःप्राणेषु ।४

सो यह दो संवर्ग हैं, देवताओं में वायु और प्राणों (इन्द्रियों) में प्राण ॥ ४ ॥

अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी बिभिक्षे। तस्मा उ ह न ददतुः ॥ ५ ॥

* एकबार शौनक कापेय (शुनक की सन्तान, कापि गोत्री) और अभिप्रतारी काक्षसेनि (कक्षसेन की सन्तान) को जब भोजन परोसा जारहा था, उस समय उनके पास आकर एक ब्रह्मचारी ने भिक्षा मांगी। उन्होंने उसे कुछ नहीं दिया ॥ ५ ॥

सहोवाच 'महात्मनश्चतुरो देव एकः कः स जगार भुवनस्य गोपाः। तं कापेय नाभिपश्यन्ति मर्त्या अभि प्रतारिन् बहुधा वसन्तम्। यस्मा वा एतदन्नं तस्मा एतन्न दत्तमिति' ॥ ६ ॥

---

* इस विषय में इस विद्या की स्तुति के लिये आख्यायिका दिखलाते हैं॥

तब उसने कहा 'एक देवता—वह कौन है? जो चार महान आत्माओं को खाजाता है * और जो सारे भुवन का रक्षक है। उसको हे कापेय! लोग नहीं जानते हैं, हे अभिप्रतारिन्! यद्यपि वह बहुत जगह रहता है। जिसके लिये यह अन्न है, उसी को यह नहीं दिया गया' † ॥ ६ ॥

तदु ह शौनकः कापेयः प्रतिमन्वानः प्रत्येयायाह 'आत्मा देवानां जनिता प्रजाना ँ हिरण्यद ँ ष्ट्रो बभसोऽनसूरिः। महान्तमस्यमहिमान माहुरनद्यमानो यदनन्नमत्तीति वै ब्रह्मचारिन्निदमुपास्महे, दत्तास्मै भिक्षामिति' ॥ ७ ॥

तब शौनक कापेय उसकी बात को समझ कर उसके पास आया और कहा 'वह सारे देवताओं का आत्मा है, सब प्रजाओं का जन्म देने वाला है, वह सुनहरी दान्तों वाला बड़ा खाने वाला है, वह अचेतन नहीं है। उसकी महिमा निःसंदेह बड़ी बतलाते हैं, क्योंकि वह स्वयं न खाया जाता हुआ उसको भी खा लेता है जो अन्न नहीं है। इस प्रकार हे ब्रह्मचारिन्! हम उसकी

---

* यह वायु और प्राण की ओर इशारा है, जिनमें चार २ का लीन होना बताया है। देखो पूर्व ४। ३। २ और ४। ३। ३; शंकराचार्य ने 'कः' शब्द का प्रजापति अर्थ लिया है। प्रजापति ब्रह्म के अभिप्राय में है, जिसको यहां वायु और प्राण शबलरूप में प्रकट करते हैं ॥

† मुझे अन्न देने से जो तुमने इनकार किया है, यह वस्तुतः प्राण ब्रह्म को अन्न देने से इनकार किया है ॥

उपासना करते हैं *। (पीछे परोसने वालों को कहा) इसे भिक्षा दो ॥ ७ ॥

तस्मा उ ह ददतुः । ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश सन्त स्तत्कृतं, तस्मात् सर्वासु दिक्ष्वन्नमेव दशकृतं, सैषा विराडन्नादी, तयेद ँ सर्वं दृष्टम् । सर्वमस्येदं दृष्टं भव त्यन्नादो भवति,य एवं वेद, यएवं वेद ॥८॥

उन्होंने उसे अन्न दिया। सो एक पांच और दूसरे पांच दस बनते हैं, और वह कृत अय है † इसलिये सारी दिशाओं में यह दश अन्न है और कृत हैं। और यह विराट् है, जो अन्न को खाने वाली है ‡। उस (विराट्) के द्वारा यह सब देखा हुआ होजाता

---

* शौनक ने ब्रह्मचारी पर प्रकट किया है,कि यद्यपि लोग उसे नहीं देखते; पर मैं उसे देखता हूं और उपासता हूँ । अर्थात् वह देवता वायु है, जो अग्नि आदि देवताओं को (जो अन्न नहीं हैं) खाजाता है, और फिर उनको जन्म देता है। या वह देवता प्राण है, जो वाणी आदि (जो अन्न नहीं हैं) को खाजाता है और जाग्रत में उनको फिर जन्म देता है ॥

† पहले पांच अधिदैवत में-खानेवाला वायु एक और चार उसके अन्न-अग्नि,सूर्य,चन्द्रमा और जल। दूसरे पांच अध्यात्म में-खाने वाला प्राण और चार उसके अन्न-वाणी, नेत्र, श्रोत्र और मन। यह मिल कर दश होते हैं और जुए की चार नर्दें- अय) दश फूल बनाती हैं। कृत-४, त्रेता-३, द्वापर-२ कलि १। और कृत नर्द दूसरों को अन्तर्गत कर लेती है, इसलिये वह दस गिनी गई है ॥

‡ विराट्, छन्द दस अक्षर का है, और यह अन्न का नाम भी है। दस की संख्या में अन्न और अन्न का खानेवाला अन्तर्गत है, जैसाकि ऊपर कहा है, इसलिये दस की संख्या कृतरूप से अन्न और अन्नादी है॥

है। सब कुछ इस का देखा हुआ होजाता है, और वह अन्न का खाने वाला (स्वस्थ, नीरोग) होता है, जो इस प्रकार (इस रहस्य को) जानता है, हां; जो इस प्रकार जानता है * ॥ ८ ॥

चौथा खण्ड †

सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयाञ्चक्रे 'ब्रह्मचर्यं भवति ! विवत्स्यामि, किंगोत्रो ऽहमस्मीति' ॥ १ ॥

सत्यकाम जाबाल (जबाला के पुत्र) ने अपनी माता जबाला से पूछा 'मातः ! मैं ब्रह्मचर्य वास करना चाहता हूं, मैं किस गोत्र का हूं' ॥ १ ॥

सा हैनमुवाच 'नाहमेतद् वेद तात यद्गोत्रस्त्वमसि । बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे । साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि । जबाला तु नामा हमस्मि सत्यकामो नाम त्वमसि । स

---

* इस प्रवाक के तात्पर्यांश में बड़ी उलझन सी है। यहां उस उपमा को ठीक किया गया है जो पूर्व रैक के लिये दीगई थी, जैसे कृत अय में निचले अय अन्तर्गत होते हैं, सो यहां संवर्ग विद्या की दस संख्या और कृत के अयों की दस संख्या द्वारा समता दिखलाई है। और कृतनर्द दूसरों को अन्तर्गत करलेती है, जैसाकि संवर्गविद्या के जानने वाले में दूसरे सारे पुण्य अन्तर्गत होजाते हैं। पर इसकी उलझन बराबर बनी है। शंकरभाष्य से भी यह सुलझनी नहीं ॥

† पूर्व ३।१८।२—में आकाशब्रह्म के जो चार पाद बतलाए हैं यह उसका विस्तार है, उनमें से प्रत्येक पाद चार २ कलाओं वाला दिखलाया है, इस प्रकार यह सोलह कला वाले की उपासना षोडश कलावाली विद्या कहलाती है ॥

सत्यकाम एव जाबालो ब्रवीथा इति' ॥२॥

उसने कहा 'बेटा! मैं यह नहीं जानती, तू किस गोत्रका है। परिचारिणी (आए गए की सेवा करने वाली के तौर पर बहुत घूमती हुई मैंने अपनी जवानी में तुझे पाया है। सो मैं नहीं जानती तू किस गोत्र का है *हां मेरा नाम जबाला है, और तेरा नाम सत्यकाम है। सो तू यही कहो, कि मैं जबाला का पुत्र सत्यकाम हूं ॥ २ ॥

सह हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच 'ब्रह्मचर्यं भगवति! वत्स्याम्युपेयां भगवन्तामिति ॥३॥

वह हारिद्रुमत (हरिद्रुमान् के पुत्र) गौतम (गोत्री) के पास आया और कहा 'भगवन्! मैं आपके पास ब्रह्मचर्य वास करूंगा भगवन्! मैं आपके पास आउं' ॥ ३ ॥

त ँ᳭ हेवाच 'किं गोत्रो नु सोम्यासीति' स होवाच 'नाहमेतद वेद भो यद्गोत्रोहमस्मि। अपृच्छं मातर ँ᳭ सा मा प्रत्यब्रवीद् "बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने त्वामलभे। साहमेतन्न वेद, यद्गोत्र-

---

* पति के घरमें मैं सेवाके स्वभाव वाली रहकर अतिथि अभ्यागतों की सेवा में दत्तचित्त रही, गोत्रादि के स्मरण में मेरा मन नहीं गया, उन्हीं दिनों जवानी में मैंने तुझे पाया और तभी तेरा पिता मर गया, और मैं उसी समय से अनाथा हूं, सो मैं नहीं जानती तू किस गोत्र का है (शंकराचार्य) पर यहां 'बह्वहं चरन्ती, परिचारिणी यौवने' यह शब्द उसी अर्थ को स्पष्ट करते हैं, जिसकी आगे (४) में गौतम ने प्रशंसा की है 'नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति 'न सत्यादगाः ॥

स्त्वमासि । जबाला तु नामाहमास्मि, सत्यकामो नाम त्वमसीति" सोऽह ँ सत्यकामो जाबालोस्मि भो इति ॥४॥ त ँ होवाच 'नैतदब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सोम्याहरोपत्वा नेष्ये न सत्यादगा' इति । तमुपनीय कृशानामबलानां चतुःशता गा निराकृत्योवाच 'इमाः सोम्यानुसं व्रजेति' । ताअभि प्रस्थापयन्नुवाच 'नासहस्रेणावर्तेयेति' । स वर्षगणं प्रोवास, ता यदा सहस्र ँ सम्पेदुः ॥५॥

उसने उसे कहा 'सोम्य ! तू किस गोत्र का है ?' उसने उत्तर दिया 'भगवन् ! मैं नहीं जानता, मैं किस गोत्र का हूं । मैंने अपनी माता से पुछा था, उसने मुझे यह उत्तर दिया है, "दासी के तौर पर बहुत घूमती हुई मैंने अपनी जवानी में तुझे पाया है, सो मैं नहीं जानती, तू किस गोत्र का है ? हां मेरा नाम जबाला है और तेरा नाम सत्यकाम है" 'सो हे भगवन् ! मैं जवाला का पुत्र सत्यकाम हूं' ॥४॥ उसने उसे कहा 'यह बात सिवाय ब्राह्मण के कोई साफ नहीं कह सक्ता । जा सोम्य समिधा लेआ, मैं तेरा उपनयन करूंगा । तू सचाई से नहीं गया है (इधर, उधर नहीं गया है)* तब-उसका उपनयन करके, उसने पतली दुबली चार सौ गौएं अलग करके उसे कहा 'हे सोम्य ! इनके पीछे जाओ' । उसने उनको हांक लिया (और मन में) कहा 'मैं वापिस नहीं आऊंगा जब तक यह हजार न होजाएं' । वह बहुत बरस (जंगल में) रहा । जब वह (गौएं) हजार होगईं ॥ ५ ॥

---

* इस पर देखो वेदान्त० १ । ३ । ३६—३७ ॥

पांचवां खण्ड

अथ हैन मृषभोऽभ्युवाद 'सत्यकाम३ इति' 'भगव इति' ह प्रतिशुश्राव। 'प्राप्ताः सोम्य! सहस्र ७ स्मः प्रापय न आचार्यकुलम्' ॥१॥

तब उसे बैल * ने कहा 'सत्यकाम!'। उसने उत्तर दिया 'भगवन्!'। (बैल ने कहा) 'सोम्य! हम हजार होगए हैं, हमें आचार्य के घर ले चलो' ॥ १ ॥

ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति'। 'ब्रवीतु मे भगवानिति' तस्मै होवाच 'प्राचीदिक् कला, प्रतीचीदिक् कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कला। एषवैसोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम ।२।

'और मैं तुझे ब्रह्म का एक पाद बतलाऊंगा'।

(उसने कहा) 'भगवन्! मुझे बतलाइये' ॥

उसको उसने कहा 'पूर्व दिशा एककला है, पश्चिम दिशा एक कला है, दक्षिण दिशा एक कला है, उत्तर दिशा एक कला है। हे सोम्य! यह ब्रह्म का चार कलाओं वाला पाद प्रकाशवान् (प्रकाश वाला) कहलाता है † ॥ २ ॥

---

* ब्रह्म की महिमा सर्वत्र विस्तृत है, उसकी महिमा और उपासना का सृष्टि के अन्यपदार्थ भी उसी तरह उपदेश दे रहे हैं, जैसे आचार्य शिष्य को उपदेश देते हैं।

† सत्य कामने जो विद्या बैल आदि से सीखी, उसको उनके संवाद द्वारा अलङ्कार से वर्णन किया है ॥

'सत्यकाम की श्रद्धा और तप से वायु देवता ने प्रसन्न होकर बैल में प्रवेश करके उससे सम्वाद किया' (शंकराचार्य)

स य एतमेवं विद्वा ँ श्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते, प्रकाशवानस्मिँल्लोके भवति, प्रकाशवतो ह लोकाञ्जयति, य एतमेवं विद्वा ँ श्च तुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते ।३।

वह जो इस प्रकार जानता हुआ ब्रह्म के इस चार कलाओं वाले पाद को प्रकाशवान् नाम से उपासता है, वह इस लोक में प्रकाशवाला होता है, और प्रकाश वाले लोकों को जीतता है * । जो इस प्रकार जानता हुआ ब्रह्म के इस चार कलाओं वाले पाद को प्रकाशवान् नाम से उपासता है ॥ ३ ॥

छठवां खण्ड

अग्निष्टे पादं वक्तेति; । स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार । ता यत्राभिसायं बभूवुः, तत्राग्नि मुपसमाधाय, गा उपरुध्य समिधमाधाय, पश्चादग्नेःप्राङुपोपविवेश ।१।

'अग्नि तुझे ब्रह्म का एक पाद कहेगा'। (यह कहकर बैल चुप होगया) ॥

उसने दूसरे दिन गौओं को हांक लिया (आचार्य के घर की ओर) । और जहां उन्हें सायंकाल हुआ, वहां उसने अग्नि जलाई,

---

* प्रकाश वाला होना इस लोक का फल है, और प्रकाश वाले लोकों को जीतना अदृष्ट फल है । इसी प्रकार आगे भी दो २ फल इसी अभिप्राय से हैं ॥

गौओं को रोक दिया, अग्नि में समिदाधान किया * और अग्नि के पीछे पूर्वाभिमुख बैठगया ॥ १ ॥

तमाग्निरभ्युवाद 'सत्यकाम ३ इति' 'भगव इति प्रतिशुश्राव ॥२॥

अग्नि ने उसे कहा 'सत्यकाम' उसने उत्तर दिया 'भगवन्' ।२।

'ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति' । तस्मैहोवाच 'पृथिवी कलाऽन्तरिक्षं कला द्यौःकला समुद्रःकला, एष वै सोम्य चतुष्कलःपादो ब्रह्मणो ऽनन्तवान्नाम ॥३॥

अग्नि ने कहा 'सोम्य! मैं तुझे ब्रह्म का एक पाद बतलाऊंगा' उसने उत्तर दिया ' भगवन्? मुझे बतलाइये '

उसने उसे कहा 'पृथिवी एक कला है, अन्तरिक्ष एक कला है, द्यौ एक कला है, समुद्र एक कला है । यह ब्रह्म का कला वाला पाद अनन्तवान् (अन्तरहित) नाम है ॥ ३ ॥

स य एतमेवं विद्वा ँ श्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ऽनन्तवानित्युपास्ते,अनन्त वानास्मिंल्लोकेभवत्यनन्त वतो ह लोकाञ्जयति, य एतमेवं विद्वा ँ श्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणोऽनन्तवानित्युपास्ते ॥४॥

वह जो इस प्रकार जानता हुआ ब्रह्म के इस चार कला वाले

---

* 'अग्नये समिधमाहार्षं' मन्त्र से अग्नि में समिधा डालना विद्यार्थी का नित्यकर्तव्य है ॥

पाद को अन्तवान् नाम से उपासता है, वह इसलोक में अन्तरहित (सन्तान की परम्परा से) होता है । वह अन्तरहित लोकों को जीतता है, जो इस प्रकार जानता हुआ ब्रह्म के इस चार कला वाले पाद को अनन्तवान् नाम से उपासता है ॥ ३ ॥

सातवां खण्ड

'हꣳसस्ते पादं वक्तेति' । स ह श्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार । ता यत्राभिसायं बभूवुः, तत्राग्निमुपसमाधाय, गा उपरुध्य, समिधमाधाय, पश्चादग्नेः प्राङु पोपविवेश ॥ १ ॥

हंस * तुझे ब्रह्म का एक और पाद कहेगा' (यह कहकर वह चुप होगया)

उसने दूसरे दिन गौओं को हांक लिया, और जहां सायंकाल हुआ, वहां उसने अग्नि जलाई, गौओं को रोक दिया, अग्नि में समिधाधान किया और अग्नि के पीछे पूर्वाभिमुख बैठगया ॥१॥

तं हꣳस उपनिपत्याभ्युवाद 'सत्यकाम ३ इति' । 'भगव । इति' इति ह प्रतिशुश्राव ॥२॥

तब हंस उड़कर उसके पास आया और कहा ' सत्यकाम ' उसने उत्तर दिया ' भगवन् ' ॥ २ ॥

'ब्रह्मणःसोम्य ! ते पादं ब्रवाणीति' 'ब्रवीतु मेभगवा

---

* हंस, सूर्य से अभिप्राय है—क्योंकि श्वेत है, आकाश में उड़ता सा प्रतीत होता है, और आगे उसने ज्योति के विषय में ही सत्यकाम को उपदेश भी दिया है (शंकराचार्य)

निति तस्मै होवाच'अग्निः कला, सूर्यः कला, चन्द्रः कला, विद्युत कला। एष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मणो ज्योतिष्मान्नाम ॥३॥

(हंस ने कहा) 'सोम्य मैं तुझे ब्रह्म का एक और पाद बतलाऊंगा' (उसने उत्तर दिया) 'भगवन्! मुझे बतलाइये' उसने कहा 'अग्नि एक कला है, सूर्य एक कला है, चन्द्रमा एक कला है विजली एक कला है। हे सोम्य! यह चार कलाओं वाला ब्रह्म का पाद ज्योतिष्मान् (ज्योति से पूर्ण) नाम है ॥३॥

स य एतमेवं विद्वा ँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते, ज्योतिष्मानस्मिंल्लोके भवति, ज्योतिष्मतो ह लोकाञ्जयाति, य एतमेवं विद्वा ँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणो ज्योतिष्मानित्युपास्ते ॥४॥

वह जो इस प्रकार जानता हुआ ब्रह्म के इस चार कलाओं वाले पाद को ज्योतिष्मान् नाम से उपासता है, वह इस लोक में ज्योति से पूर्ण लोकों को जीतता है, जो इस प्रकार जानता हुआ ब्रह्म के इस चार कलाओं वाले पाद को ज्योतिष्मान् नाम से उपासता है ॥४॥

आठवां खण्ड

'मद्गुष्टे पादं वक्तेति,। सहश्वोभूते गा अभिप्रस्थापयाञ्चकार। ता यत्राभिसायं बभूवुः,तत्राग्नि मुपसमाधाय, गा उपरुध्य, समिधमाधाय, पश्चादग्नेः प्राङुपोपविवेश ॥१॥

'मुद्गु * तुझे ब्रह्म का एक और पाद कहेगा' (यह कह कर हंस चुप होगया)।

उसने दूसरे दिन गौओं को हांक लिया, और जहां उन्हें सायंकाल हुआ, वहां उसने अग्नि जलाई, गौओं को रोक दिया, अग्नि में समिधाधान किया और अग्नि के पीछे पूर्वाभिमुख बैठ गया ॥१॥

तं मद्गुरुपनिपत्याभ्युवाद 'सत्यकाम ३' इति 'भगव' इति ह प्रतिशुश्राव ॥२॥

तब एक मद्गु उड़कर उसके पास आया, और कहा 'सत्यकाम' उसने उत्तर दिया 'भगवन्' ॥ २ ॥

'ब्रह्मणः सोम्य ते पादं ब्रवाणीति' ब्रवीतु मे भगवानिति' तस्मै होवाच 'प्राणः कला, चक्षुः कला, श्रोत्रं कला, मनः कला। एष वै सोम्य चतुष्कलः पादो ब्रह्मण आयतनवान्नाम ॥३॥

(मद्गु ने कहा) 'सोम्य मैं तुझे ब्रह्म का एक और पाद बतलाऊंगा' (उसने उत्तर दिया) 'भगवन्! मुझे बतलाइये' ॥

उसने उसे कहा 'प्राण एक कला है, नेत्र एक कला है, श्रोत्र एक कला है, मन एक कला है। हे सोम्य! यह चार कलाओं वाला ब्रह्म का पाद आयतनवान् (घर वाला) नाम है ॥ ३ ॥

स य एतमेवं विद्वा ँश्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्ते, आयतनवानस्मिँल्लोके भवत्याय-

---

* मद्गु, पानी में डुबकी लगाने वाला पक्षी विशेष, यहां अभिप्राय प्राण से है क्योंकि उसका जलों से सम्बन्ध है (शंकराचार्य)

तनवतो ह्लोकाञ्जयति, य एतमेवं विद्वा ७ श्चतुष्कलं पादं ब्रह्मण आयतनवानित्युपास्ते ॥४॥

वह जो इस प्रकार जानता हुआ ब्रह्म के इस चार कलाओं वाले पाद को अयतनवान नाम से उपासता है, वह इस लोक में घरों का मालिक होता है, और उन लोकों को जीतता है, जहां उसे घर (आश्रय) मिलते हैं, जो इस प्रकार जानता हुआ ब्रह्म के इस चार कलाओं वाले पाद को आयतनवान नाम से उपासता है॥४॥

नवां खण्ड

प्राप हाचार्यकुलं । तमाचार्योऽभ्युवाद 'सत्यकाम ३ इति'। 'भगव इति' ह प्रति शुश्राव ॥ १ ॥

इस तरह वह आचार्य के घर पहुंचा । उसे आचार्य ने बुलाया 'सत्य काम'। उसने उत्तर दिया 'भगवन्' ॥ १ ॥

'ब्रह्मविदिव वै सोम्य ! भासि, को नु त्वाऽनुशशासेति' 'अन्ये मनुष्येभ्य इति' ह प्रतिजज्ञे । भगवांस्त्वेव मे कामे ब्रूयात् ॥ २ ॥

(आचार्य ने कहा)' सोम्य तुम ब्रह्मवेत्ता की तरह चमक रहे हो*। किसने तुझे शिक्षा दी है †' उसने उत्तर दिया 'मनुष्यों ने

* इन्द्रिय प्रसन्न, मुख खिला हुआ, निश्चन्त और कृतार्थ हुए प्रतीत होते हो ॥

† यह बहुत अनुचित होगा, यदि सत्यकाम ने अपने स्वीकार किये हुए आचार्य के सिवाय किसी दूसरे मनुष्य से जाकर ब्रह्मविद्या ग्रहण की हो ॥

नहीं*पर हे भगवन् मैं चाहता हूं †, केवल आप ही मुझे उपदेश दें॥२

श्रुत ँ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयतीति' तस्मै हैतदेवोवाच,अत्र ह न किञ्चन वीयायेति ॥ ३ ॥

'क्योंकि हे भगवन् ! मैंने आप जैसे महा पुरुषों से सुना हुआ है, कि विद्या जो आचार्य से ही जानी गई है, वही असली भलाई तक पहुंचाती है'। तब उसने उसे यही (विद्या जो बैल आदि ने उपदेश दी थी) सिखलाई, इसमें कुछ छोड़ा नहीं गया (यह विद्या पूर्ण है) हां, कुछ छोड़ा नहीं गया ॥ ३ ॥

दसवां खण्ड ‡

उपकोसलो ह वै कामलायनः सत्यकामे जाबाले ब्रह्मचर्य मुवास । तस्य ह द्वादश वर्षाण्यग्नीन् परिच-चार । स ह स्मान्यानन्तेवासिनः समावर्तयन्, त ँ ह स्मैव न समावर्तयाति ॥ १ ॥

उपकोसल कामलायन (कमल की सन्तान) ने सत्यकाम जाबाल के पास ब्रह्मचर्य वास किया । उसने बारह बरस उसकी

---

* अक्षरार्थ—मनुष्यों से भिन्नों ने (शिक्षा दी है)

† 'मे कामे' अक्षरार्थ—मेरी इच्छा पर ॥

‡ भिन्नश्शबल उपासना कहकर अब उपकोसल विद्या में, शुक्ल (हृदयस्थ ब्रह्म) और शबल (प्राण, आदित्य पुरुष आदि) की एक साथ उपासनाएं बतलाई हैं । और इसलिये यह आत्मविद्या और अग्निविद्या कहलाती है । उपासना का फल मरने के पीछे शुक्ल गति बतलाई है और आख्यायिका द्वारा पूर्ववत् श्रद्धा और तप को ब्रह्मविद्या का साधन बतलाया है ॥

अग्नियों (गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय) की सेवा की। आचार्य ने यद्यपि दूसरे शिष्यों का समावर्तन कर दिया। (वेदाध्ययन कराकर अपने घर वापिस लौटा दिया) पर केवल उपकोसल का समावर्तन नहीं किया ॥ १ ॥

तं जायोवाच 'तप्तो ब्रह्मचारी, कुशलमग्नीन् परिचचारीन्मा त्वाऽग्नयः परिप्रवोचन्, प्रब्रूह्यस्मा इति' तस्मै हाप्रोच्यैव प्रवासाञ्चक्रे ॥ २ ॥

तब उसे पत्नी ने कहा 'यह ब्रह्मचारी बहुत तप कर चुका है (तप करते २ थक गया है) बड़ी सावधानी से इस ने अग्नियों की सेवा की है। ऐसा न हो कि अग्नियें तुझे दोष दें, सो आप इसे उपदेश देवें'। पर आचार्य उसे विना उपदेश दिये ही यात्रा पर चले गए॥२

स ह व्याधिना ऽनाशितुं दध्रे। तमाचार्यजायोवाच 'ब्रह्मचारिन्नशान, किं नु नाश्नासीति'। सहोवाच 'बहव इमे पुरुषे कामा नानात्यया व्याधिभिः प्रतिपूर्णो ऽस्मि, नाशिष्यामीति' ॥ ३ ॥

अब उस (ब्रह्मचारी) को शोक से खाना खाने की रुचि नहीं हुई। तब उसे आचार्य की पत्नी ने कहा 'ब्रह्मचारिन् ! खाओ क्यों तुम नहीं खाते हो'? उसने कहा 'इस पुरुष में बहुत सी कामनाएं हैं, जो उसे इधर उधर डुलाती हैं, मैं शोकों से भर रहा हूं, मैं खाना नहीं खाउंगा' ॥ ३ ॥

अथ हाग्नयः समुदिरे 'तप्तो ब्रह्मचारी कुशलं नः पर्यचारीत्, हन्तास्मै प्रब्रवामेति' तस्मै होचुः ॥४॥

तब अग्नियों ने आपस में कहा 'यह ब्रह्मचारी तप से थक गया है, बड़ी सावधानी से इसने हमारी सेवा की है। अच्छा हम इसे उपदेश दें'। तब उन्होंने उसे कहा * ॥ ४ ॥

'प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्मेति'। स होवाच 'विजानाम्यहं,यत्प्राणो ब्रह्म,कञ्च तु खञ्च न विजानामीति'। ते होचुः 'यद्वाव कं तदेव खं,यदेव खं तदेव कमिति'। प्राणं च हास्मै तदाकाशं चोचुः ॥ ५ ॥

'प्राण ब्रह्म है, क (सुख) ब्रह्म है,ख (आकाश) ब्रह्म है' उसने कहा 'मैंने समझ लिया है, कि प्राण ब्रह्म है, पर मैं क और ख नहीं समझा †'।

उन्होंने कहा 'जो क है,वही ख है,जो ख है,वही क है ‡।

---

* अग्नियों द्वारा जो उस पर परब्रह्म की महिमा का प्रकाश हुआ, उसे इसमें आख्यायिका की भान्ति वर्णन किया है ॥

† नहीं समझा, इसका अभिप्राय है, कि क सुख को कहते हैं, पर वह नाशवान् है और ख आकाश का नाम है, वह चेतन नहीं, यह कैसे ब्रह्म हो सक्ते हैं ॥

‡ क के अर्थ सुख और ख के अर्थ आकाश हैं, जब यह दोनों एक दूसरे के विशेषण कर दिये गए, तो अब यह हृदयस्थब्रह्म को बोधन करते हैं। अब क विषय सुख को नहीं कह सक्ता, किन्तु ऐसे सुख का नाम है, जो आकाश से सम्बन्ध रखता है। वह हृदयाकाशस्थ ब्रह्म है। और ख अब भौतिक आकाश का नाम नहीं रहा, किन्तु उस चेतन आकाश से अर्थात् उस व्यापक चेतन से अभिप्राय होगया है, जो सुख स्वरूप है। और इस प्रकार क और ख दोनों मिलकर हृदयस्थ सुखब्रह्म को कहते हैं। और प्राण हृदय से सम्बन्ध रखने से शबल ब्रह्म है ॥

सो उन्होंने इस प्रकार उसे प्राण का (ब्रह्म के तौर पर) और उसके आकाश * (हृदयाकाश) का उपदेश दिया ॥ ५ ॥

ग्यारहवां खण्ड

अथ हैनं गार्हपत्योऽनुशशास 'पृथिव्यग्निरन्नमादित्य इति। य एष आदित्ये पुरुषो दृश्यते, सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति' ॥१॥

अब † इसको गार्हपत्य अग्नि ने शिक्षा दी 'पृथिवी, अग्नि, अन्न और सूर्य ‡ यह मेरे शरीर हैं, (वा ब्रह्म के शरीर हैं)। वह पुरुष जो यह सूर्य में दीखता है, वह मैं हूं, वही मैं हूं §॥१॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्ते, अपहते पापकृत्यां, लोकी भवति, सर्वमायुरेति, ज्योग्जीवति, नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्ते। उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिंश्च लोकेऽमुष्मिंश्च, य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥२॥

---

* 'तदाकाश' उसका आकाश, आकाश जो हृदय में है, जिस से प्राण का सम्बन्ध है ॥

† पूर्व अग्नियों ने मिलकर उसे प्राण और क, ख, ब्रह्म की शिक्षा दी है। अब यह अलग २ अपने २ विषय की विद्या उसे बतलाती हैं।

‡ इन चारों में परस्पर क्या सम्बन्ध है, शंकराचार्य कहते हैं, अग्नि और सूर्य समान धर्म वाले हैं, अर्थात् खाने वाले, पकाने वाले और प्रकाश देने वाले हैं, इसलिये यह एकही तत्त्व है, और पृथिवी और अन्न इनका भोज्य हैं। प्रधान अंश यहां यह है कि इन सब में एक ब्रह्म का प्रकाश है ॥

§. कैसा स्पष्ट शबल ब्रह्म का स्वरूप दिखलाया है, जो सूर्य में चेतन है, वही गार्हपत्य में है। गार्हपत्य में उसी की उपासना है, जिसके तेज से सूर्य प्रदीप्त होता है ॥

वह जो इसको इस प्रकार जानता हुआ उपासता है, वह पाप कर्म को दूर कर देता है, (गार्हपत्य अग्नि के) लोक का मालिक बनता है, पूर्ण आयु को प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीता है, उसके निचले पुरुष (सतन्ति) क्षीण नहीं होते। यह (अग्नयें) उसकी रक्षा करती हैं, इस लोक में और उस लोक में, जो कोई इसको इस प्रकार जानता हुआ उपासता है ॥

बारहवां खण्ड

अथ हैनमन्वाहार्यपचनोऽनुशशास 'आपो दिशो नक्षत्राणि चन्द्रमा इति। य एष चन्द्रमसि पुरुषो दृश्यते सोऽहमस्मि स एवाहमस्मीति' ।१।

अब इसको दक्षिणाग्नि ने शिक्षा दी 'जल, दिशाएं, नक्षत्र और चन्द्रमा * (यह मेरे शरीर हैं) वह पुरुष जो चन्द्रमा में दीखता है, वह मैं हूं वही मैं हूं ॥ १ ॥

'स य एतमेवं विद्वानुपास्ते, अपहते पापकृत्यां, लोकी भवति, सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति, नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्ते। उप वयं तं भुंजामोऽस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च, य एतमेवं विद्वानुपास्ते' ॥ २ ॥

वह जो इसको (दक्षिणाग्नि को) इस प्रकार जानता हुआ उपासता है, वह पाप कर्म को दूर कर देता है, (दक्षिणाग्नि के) लोक का मालिक बनता है, पूर्ण आयु को प्राप्त होता है, उज्ज्वल

*दक्षिणाग्नि और चन्द्रमा ज्योति वाले होनेसे एक हैं जल और नक्षत्र अन्न हैं। नक्षत्र भी चन्द्रमा के भोग्य माने गए हैं (शंकराचार्य)

जीता है, उसकी सन्तति क्षीण नहीं होती । हम उसकी रक्षा करती हैं, इस लोक में और उस लोक में, जो इसको इस प्रकार जानता हुआ उपासता है' ॥ २ ॥

तेरहवां खण्ड

अथ हैनमाहवनीयोऽनुशशास 'प्राण आकाशो द्यौर्विद्युदिति । य एष विद्युति पुरुषो दृश्यते, सोऽहमस्मि, स एवाहमस्मीति ॥ १ ॥

अब इसको आहवनीय ने शिक्षा दी 'प्राण, आकाश, द्यौ और बिजली (यह मेरे शरीर हैं) । वह पुरुष जो बिजली में दीखता है, वह मैं हूं, वही मैं हूं' ॥ १ ॥

स य एतमेवं विद्वानुपास्ते, अपहते पापकृत्यां, लोकी भवति, सर्वमायुरेति, ज्योग् जीवति, नास्यावरपुरुषाः क्षीयन्ते । उप वयं तं भुञ्जामोऽस्मिꣳश्च लोकेऽमुष्मिꣳश्च, य एतमेवं विद्वानुपास्ते ॥ २ ॥

वह जो इसको (आहवनीय को) इस प्रकार जानता हुआ उपासता है, वह पाप कर्म को दूर कर देता है, (आहवनीय के) लोक का मालिक बनता है, पूर्ण आयु को प्राप्त होता है, उज्ज्वल जीता है, और उसकी सन्तति क्षीण नहीं होती । हम उसकी रक्षा करती हैं इस लोक में और उस लोक में, जो इसको इस प्रकार जानता हुआ उपासता है ॥ २ ॥

चौदहवां खण्ड

ते होचुः 'उपकोसलैषा सौम्य ! तेऽस्मद्विद्याऽऽत्म

विद्या च, आचार्यस्तु ते गतिं वक्तेति' आजगाम हास्या चार्यः। तमाचार्योऽभ्युवाद 'उपकोसल ३ इति' ॥१॥

तब उन्होंने (फिर मिलकर) कहा 'उपकोसल सोम्य ! यह तुझे हमारी विद्या (अग्निविद्या) है और आत्मविद्या (पूर्वोक्त 'प्राणोब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म' यह) है। पर आचार्य तुझे गति (परलोक का मार्ग) कहेगा' ॥ (समय पाकर) उसका आचार्य आगया। आचार्य ने उसे कहा 'उपकोसल' ॥

'सभगव इति' ह प्रतिशुश्राव 'ब्रह्मविदइव सोम्य ! ते मुखं भाति, को नुत्वाऽनुशशासेति'। 'कोनुमाऽनुशिष्याद्भो इति' हापेव निन्हुते 'इमे नूनमीदृशा अन्यादृशा इति' हाग्नीनभ्यूदे 'किं नु सोम्य किल तेऽवोचन्निति' ॥ २ ॥

उसने उत्तर दिया 'भगवन्' (आचार्य ने कहा) 'सोम्य ! तेरा मुख उस पुरुष की तरह चमक रहा है, जिसने ब्रह्म को जान लिया है। किसने तुझे अनुशासन किया है ?'

(उसने कहा) 'भगवन् ! कौन मुझे अनुशासन करसक्ता था। इस प्रकार उसने इन्कार सा किया। और अग्नियों की ओर ध्यान करके कहा 'यह अग्नियें जो इस प्रकार की हैं तब औरही प्रकार की थीं' ॥

(आचार्य ने कहा) हे सोम्य ! तुझे इन अग्नियों ने क्या उपदेश किया है' ?

'इदमिति' ह प्रतिजज्ञे 'लोकान् वाव किल सोम्य

ते ऽवोचन्नहं तु ते तद्वक्ष्यामि, यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्ते, एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते' इति ब्रवीतु मे भगवानिति' तस्मै होवाच॥३॥

उसने उत्तर दिया 'यह' (अर्थात् जो अग्नियों का उपदेश था वह कह सुनाया) ॥

(आचार्य ने कहा) 'हे सोम्य! तुझे उन्होंने लोक (पृथ्वी आदि) ही बतलाए हैं, * पर मैं तुझे वह बतलाऊंगा, कि जिस तरह कमल के पत्ते पर जल नहीं चिमटते, इस प्रकार इस विद्या के जानने वाले को पापकर्म नहीं चिमटता है' ॥

उसने कहा 'भगवन् मुझे बतलाएं'। उसको उसने कहा ॥३॥

पन्द्रहवां खण्ड

'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते, एष आत्मेति' होवाच। 'एतदमृतमभय मेतद् ब्रह्मेति'। तद्यद्यप्यस्मिन् सर्पिर्वोदकं वा सिञ्चन्ति, वर्त्मनी एव गच्छति ॥ १ ॥

उसने कहा 'जो यह आंख में (दृष्टि का द्रष्टा) पुरुष दीखता है, यह आत्मा है। यह अमृत है, यह ब्रह्म है' †। सो चाहे इस (आंख) में घी वा पानी को डालते हैं, वह दोनों किनारों को ही चला जाता है (आंख निर्लेप ही रहती है, जैसे कमल का पत्ता पानी से) ‡ ॥ १ ॥

---

* न कि ब्रह्म पूरे तौर पर (शंकराचार्य)

† ८। ७। ४ में यह प्रजापति का उपदेश भी है ॥

‡ आंख अपने अन्दर आई हुई वस्तुओं से निर्लेप है, इसी प्रकार वह सब में रहकर भी निर्लेप है-मिलाओ-छान्दो॰ ४।१४।३॥

एत ँ संयद्वाम इत्याचक्षते, एत ँ हि सर्वाणि वामान्यभिसंयन्ति । सर्वाण्येनं वामान्यभिसंयन्ति, य एवं वेद ॥२॥

'इसको संयद्वाम * कहते हैं, क्योंकि सारे सौन्दर्य (वाम) इसको प्राप्त होते हैं, सारे सौन्दर्य इस को प्राप्त होते हैं, जो इस प्रकार जानता है (उपासता है) ॥ २ ॥

एष उ एव वामनीः, एष हि सर्वाणि वामानि नयति। सर्वाणि वामानि नयति य एवं वेद ॥ ३ ॥

यह वामनी भी है, क्योंकि यह सारे सौन्दर्यों (वाम) को प्राप्त कराता है (नयति) । वह सारे सौन्दर्यों को प्राप्त कराता है, जो इस प्रकार जानता है ॥ ३ ॥

एष उ एव भामनीः, एष हि सर्वेषु लोकेषु भाति। सर्वेषु लोकेषु भाति य एवं वेद ॥ ४ ॥

यह भामनी भी है, क्योंकि यह सारे लोकों में चमकता है। वह सारे लोकों में चमकता है, जो इस प्रकार जानता है † ॥४॥

अथ यदु चैवास्मिञ्छव्यंकुर्वन्ति यदि च न, आर्चि-

---

* संयद्वाम=वाम=कर्मफल, संयन्ति=उत्पन्न होते हैं (इसके द्वारा) अर्थात् कर्म फलों के उदय का हेतु है। वामनी=वाम=कर्म फल, नी=प्राप्त कराने वाला। अर्थात् कर्म फलों का दाता भी यही है। भामनी = सब का प्रकाशक (गोविन्दानन्द)

† यह अक्षिपुरुष पर ब्रह्म है, इसी को पूर्व क, ख, और यहां संयद्वामादि कहा है। देखो वेदान्त १। २। १३—१७॥

ष मेवाभि सम्भवन्त्यर्चिषोऽहरन्ह आपूर्यमाणपक्षमा-पूर्यमाणपक्षाद्‌ यान्‌ षडुदङेति मासा ७ स्तान्‌, मासेभ्यः संवत्सर ७ संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं, तत्पुरुषोऽमानवः ॥ ५ ॥

अब चाहे वह (ऋत्विज) उनके लिए शवकर्म (अन्त्येष्टि संस्कार) करते हैं, चाहे नहीं, सर्वथा वह (उपासक) किरण (अर्चि) को प्राप्त होते हैं, * अर्चि से दिन को, दिन से शुक्ल पक्ष को, शुक्लपक्ष से उन छः महीनों को जिन में सूर्य उत्तर को जाता है, महीनों से

* यह ब्रह्मविद्‌ (उपासक) की गति बतलाई है। गृहस्थ को अपने पारलौकिक कर्म करने के लिए अग्न्याधान कर उन अग्नियों में दर्शपूर्णमासादि इष्टियों और सोमादि यज्ञों का करना आवश्यक है। और जब वह मरता है, तो उसके ऋत्विज्‌ उन्हीं अग्नियों को ले जा कर यज्ञपात्रों समेत उसका विधिपूर्वक दाहसंस्कार करते हैं। यह संस्कार उस पुरुष का जो पूर्वोक्त अग्निविद्या और आत्मविद्या को जानता है, हो, चाहे न हो, इससे उसका कुछ बढ़ता घटता नहीं, वह सर्वथा शुक्लगति को ही प्राप्त होता है। इस कथन से यह बात अर्थसिद्ध होती है, कि जो इस उपासना वाले नहीं, उनका यथाविधि अन्त्येष्टि संस्कार न होना उनको उत्तरमार्ग वा तत्क्षणउत्तर मार्ग की प्राप्ति का वा कर्मफल के आरम्भ का प्रतिबन्धक है। और यह कदाचित्‌ इसलिए सम्भव हो, कि उसके लिङ्गदेह के सम्बन्ध को इस शरीर से तोडने में दाहसंस्कार सहायक हो। बिना दाह के उस का लिङ्गदेह देर तक वहीं प्रतिबद्ध रहता हो। तथापि निर्धारण के लिए किसी प्रमाण की अपेक्षा है। यहां उपासक के लिए दाहसंस्कार में अनादर दिखलाने से विद्या की स्तुति कीगई है, यह अभिप्राय नहीं कि उसका दाहसंस्कार नहीं करना चाहिए॥

बरस को, बरस से सूर्य को, सूर्य से चन्द्रमा को, चन्द्रमा से बिजली को। वहां एक अमानव (जो मानुषी सृष्टि का नहीं) पुरुष है ॥५॥

स एतान्ब्रह्म गमयत्येष देवपथो ब्रह्मपथः। एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्त्तं नावर्तन्ते । ६ ।

वह इन को (सत्यलोकस्थ) ब्रह्म को पहुंचाता है* यह देव पथ (देवताओंका मार्ग) है, ब्रह्मपथ है (वह मार्ग जो ब्रह्मको पहुंचाता है)। वह जो इस मार्ग से जाते हैं, इस † मानवचक्र (मानुषी जीवन) को वापिस नहीं आते हैं, हां, वापिस नहीं आते हैं ॥६॥

सोलहवां खण्ड ‡

एष ह वै यज्ञो योऽयं पवते। एष ह यन्निद ँ सर्वं पुनाति। यदेव यन्निद ँ सर्वंपुनाति, तस्मादेषएव यज्ञः। तस्य वाक् च मनश्च वर्तनी ॥ १ ॥

निःसंदेह यह यज्ञ है, जो यह शुद्ध करता है (अर्थात् वायु) §।

---

* मिलाओ, छान्दो० उप० ५। १०।१, बृह० आर० उप० ६ २। १५ और गीता ८। २४। शंकराचार्य यहां आर्चि, दिन आदिसे उनके अभिमानी देवता लेते हैं ॥

† 'इस इस विशेषण देने से यह सूचित किया है, कि इसकल्प में उनकी आवृत्ति नहीं होती, किन्तु कल्पान्तर में होती है (आनन्दगिरि)

‡ अग्निविद्या के प्रसंग से यज्ञ में त्रुटि होने पर उसके प्रायश्चित्त के लिये व्याहृतियों का विधान और ब्रह्मा के लिये मौन का विधान करते हैं। यह विधि अरण्य (जंगल) में उपदेश किया जाता है, इस लिये उपनिषद् में कहा है। इन दोनों खण्डों का विषय, ऐतरेय ५। ५। ३२—३४ और गोपथ के तीसरे प्रपाठक में भी आया है ॥

§ समिष्ट यजु "स्वाहा वाते धाः" में यज्ञ की स्थिति वायुमें कही है और वायु शुद्धि का हेतु है, इसलिये वायु को यज्ञ कहा है ॥

यह (वायु) चलता हुआ हरएक वस्तु को शुद्ध करता है। और जिसलिये यह चलता हुआ (यन्) हरएक वस्तु को शुद्ध करता है, इसलिये यह यज्ञ है। उस (यज्ञ) के दो मार्ग हैं (जिनसे यज्ञ फैलता है) एक मन और दूसरा वाणी ॥ १ ॥

तयोरन्यतरां मनसा सꣳस्करोति ब्रह्मा, होताऽध्वर्युरुद्गाताऽन्यतरां स यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदति ॥ २ ॥

उनमें से एक (मार्ग) को ब्रह्मा (ऋत्विज्) मन से सजाता है,* और दूसरे (मार्ग) को होता, अध्वर्यु और उद्गाता (वाणी से सजाते हैं) जब प्रातरनुवाक के प्रारम्भ होजाने पर परिधानीया (ऋचा) से पहले ब्रह्मा (ऋत्विज्) (अपना मौन त्याग देता है और) बोल पड़ता है ॥ २ ॥

अन्यतरामेव वर्तनिꣳसꣳस्करोति हीयतेऽन्यतरा। स यथैकपाद्व्रजन् रथो वैकेन चक्रेण वर्तमानो रिष्यति एवमस्य यज्ञो रिष्यति, यज्ञꣳरिष्यन्तं यजमानोऽनुरिष्यति, स इष्ट्वा पापीयान् भवति ॥ ३ ॥

तो वह केवल एकही (वाणी के) मार्ग को सजाता है, और

---

* जब दूसरे ऋत्विज् यज्ञ में अपने २ मंत्रों को पढ़ते हैं, ब्रह्मा ऋत्विज् चुप चाप रहता है, यज्ञ के कर्म को मन से देखता है। और यह ध्यान रखता है, कि कोई त्रुटि न हो। और यदि कोई त्रुटि होजाए, तो वह उसका प्रायश्चित्त करता है। यह ब्रह्मा का काम यज्ञ में उपासना के सदृश है। इसलिये उसके काम का उपनिषद् में वर्णन है॥

दूसरे (मार्ग) को हानि पहुंचती है। सो जैसे कोई पुरुष एक पाओं से चलता हुआ, या रथ एक पहिये से घूमता हुआ हानि उठाता है, इस प्रकार इनका यज्ञ हानि उठाता है, जब यज्ञ को हानि पहुंचती है, तो वह (यजमान) यज्ञ करके अधिक पापी बन जाता है *॥३॥

अथ यत्रोपाकृते प्रातरनुवाके न पुरा परिधानीयाया ब्रह्मा व्यववदति, उभे एव वर्तनी सꣳ स्कुर्वन्ति, न हीयते ऽन्यतरा ॥ ४ ॥

पर जब वह (ब्रह्मा) प्रातरनुवाक के प्रारम्भ होजाने पर परिधानीया से पहले २ नहीं बोलता है (अपना मौन नहीं त्यागता है) तब वह (ऋत्विज्) दोनों मार्गों को पूरा २ सजा देते हैं, उन में से किसी (मार्ग) को हानि नहीं पहुंचती ॥ ४ ॥

सयथोभयपाद् व्रजन् रथो वोभाभ्यां चक्राभ्यां वर्तमानः प्रतितिष्ठति,एवमस्य यज्ञःप्रतितिष्ठति, स इष्ट्वा श्रेयान् भवति ॥ ५ ॥

सो जैसे कोई पुरुष दो पाओं से चलता हुआ, या रथ दोनों पहियों से घूमता हुआ प्रतिष्ठित होता है (गिर नहीं जाता, किन्तु चला चलता है),इस प्रकार इसका (यजमान का) यज्ञ (मन और वाणी के दोनों मार्गों से चलता हुआ) प्रतिष्ठित होता है,जब यज्ञ प्रतिष्ठित होता है; तो उसके साथ यजमान प्रतिष्ठित होता है; और वह यज्ञ करके अधिक श्रेष्ठ बन जाता है ॥ ५ ॥

---

* पारलौकिक कर्म श्रद्धा भावना से और यथाविधि ही होना चाहिये यह तात्पर्य्य है ॥

सत्तरहवां खण्ड

प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्, तेषां तप्यमानानाँरसान् प्राबृहदग्निं पृथिव्या वायुमन्तरिक्षादादित्यं दिवः ॥१॥

प्रजापति ने लोकों (पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यौ) को तपाया और जब वह तपे, तो उसने उनके रस निचोड़े, अग्नि पृथिवी से, वायु अन्तरिक्ष से, सूर्य द्यौ से ॥ १ ॥

स एतास्तिस्रो देवता अभ्यतपत, तासां तप्यमानानाँ रसान् प्राबृहदग्नेर्ऋचो वायोर्यजूँषि सामान्यादित्यात् ॥ २ ॥

तब उसने इन तीन देवताओं को तपाया, और जब वह तपे, तो उसने उन के रसों को निचोड़ा, ऋचाएं अग्नि से, यजु वायु से, साम आदित्य (सूर्य) से ॥ २ ॥

स एतां त्रयीं विद्यामभ्यतपत्, तस्यास्तप्यमानाया रसान् प्राबृहद्, भूरित्यृग्भ्यो, भुव इति यजुर्भ्यः स्वरिति सामभ्यः ॥ ३ ॥

तब उसने इस त्रयी विद्या (ऋचा, यजु और सामकी) विद्या को तपाया, और जब वह तपी, तो उसने इस के रस निचोड़े, भू यह (व्याहृति) ऋचाओं से, भुवः यह (व्याहृति) यजुओं से, स्वः यह (व्याहृति) सामों से ॥ ३ ॥

तद् यद्यृक्तो रिष्येद्, भूः स्वाहेति गार्हपत्ये जुहुयाद्, ऋचामेवतद्रसेनर्चां वीर्येणर्चां यज्ञस्य विरिष्टँ सन्दधाति ॥ ४ ॥

सो यदि ऋचाओं की ओर से (यज्ञ को) क्षति पहुंचे (अर्थात् होता के कर्म में कोई त्रुटि वा प्रमाद हो,) तब उसे 'भूः स्वाहा' कहते हुए गार्हपत्य में आहुति देनी चाहिये। इस प्रकार वह ऋचाओं के ही रससे और ऋचाओं के ही वीर्य (शक्ति) से यज्ञ के उस क्षत (घाव) को मेल देता है जो ऋचा सम्बन्धी है * ॥ ४ ॥

अथ यदि यजुष्टो रिष्येद्, भुवः स्वाहेति दाक्षिणाग्नौ जुहुयाद्, यजुषामेव तद्रसेन यजुषां वीर्येण यजुषां यज्ञस्य विरिष्ट ७ सन्दधाति ॥ ५ ॥

और यदि यजु की ओर से क्षति पहुंचे (अध्वर्यु के काम में कोई त्रुटि वा प्रमाद हो) तब उसे 'भुवः स्वाहा' कहते हुए दक्षिणाग्नि में आहुति देनी चाहिये। इस प्रकार वह यजुओं के ही रस से यजुओं के ही वीर्य (शक्ति) से यज्ञ के उस क्षत को मेल देता है जो यजु सम्बधी है ॥५॥

अथ यदि सामतो रिष्येत्, स्वः स्वाहेत्याहवनीये जुहुयात्, साम्नामेव तद्रसेन साम्नां वीर्येण साम्नां यज्ञस्य विरिष्ट ७ संदधाति ॥ ६ ॥

और यदि सामों की ओर से क्षति पहुंचे [उद्गाता के कर्म में त्रुटि वा प्रमाद हो] तो उसे 'स्वः स्वाहा' कहते हुए

---

* अर्थात् ऋचाओं के वा ऋचा सम्बन्धि कर्म के न होने वा अन्यथा होने से यज्ञका जो भाग क्षत हुआ है, उसको वह इस आहुति से भर देता है। जैसे शरीर का क्षत चिकित्सासे भर आता है, इसी प्रकार यज्ञ के क्षत की यह आहुति चिकित्सा है॥

आहवनीय में आहुति देनी चाहिये । इस प्रकार वह सामों के ही रस से और सामों के ही वीर्य [शक्ति] से यज्ञ के उस क्षत को मेल देता है, जो सामसम्बन्धी है * ॥ ६ ॥

तद्यथा लवणेन सुवर्णं संदध्यात् सुवर्णेन रजतं रजतेन त्रपु त्रपुणा सीसं सीसेन लोहं लोहेन दारु चर्मणा ॥ ७ ॥

एवमेषां लोकानामासां देवतानामस्यास्त्रय्या विद्याया वीर्येण यज्ञस्य विरिष्टं संदधाति । भेषजकृतो ह वा एष यज्ञो यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति ॥ ८ ॥

सो जैसे कोई लवण † के द्वारा सोने को सोने से मेल देवे, चांदी को चांदी से, कलई को कलई से, सिक्के को सिक्के से, लोहे को लोहे से, और चमड़े के द्वारा लकड़ी को (मेल देवे) इस प्रकार वह (ब्रह्मा) इन लोकों के, इन देवताओं के, इस त्रयी विद्या के वीर्य (शक्ति) से (अर्थात व्याहृतियों से) यज्ञ के क्षत को मेल देता है । निःसंदेह इस यज्ञ का औषध किया गया है जहां ऐसा जानने वाला ब्रह्मा होता है ॥ ८ ॥

एष हवा उदक्प्रवणो यज्ञो, यत्रैवंविद् ब्रह्मा भवति । एवंविदं हवा एषा ब्रह्माणमनुगाथा 'यतो यत आवर्तते, तत्तद्गच्छति ॥ ९ ॥

* और ब्रह्मा के काम में क्षति हो, तो तीनों अग्नियों में तीनों महाव्याहृतियों से होम करे, क्योंकि ब्रह्मा त्रयी विद्या से बनता है (शंकराचार्य)

† सुहागा, क्षार, टंक, जिस से सोना चांदी गलाते हैं ॥

यह यज्ञ उत्तर की ओर झुकने वाला होता है*, जहां ऐसा जानने वाला ब्रह्मा होता है। और ऐसे ब्रह्मा के विषय में यह गाथा † है 'जहां २ से वापिस आता है, वहां २ मानव (मनुष्य=मनु की सन्तान) पहुंचता है' ॥ ९ ॥

'मानवो' ब्रह्मैवैकऋत्विक् 'कुरूनश्वाभिरक्षति' एवंविद्धवै ब्रह्मा यज्ञं यजमान ँ सर्वा ँ श्चर्त्विजोऽभि रक्षति। तस्मादेवंविदमेव ब्रह्माणं कुर्वीत नानेवंविदं नानेवंविदम् ॥ १० ॥

(अर्थात्) अकेला ब्रह्मा ऋत्विज् ही 'वह कुरुओं की रक्षा करता है जैसे घोड़ी (रक्षा करती है)'। (अर्थात्) ऐसा जानने वाला

---

* उत्तर की ओर झुकता हुआ, दक्षिण की ओर से ऊंचा, यह यज्ञ होता है' अर्थात् उत्तर मार्ग (शुक्लगति) के प्रति हेतु होता है, यह तात्पर्य है (शंकराचार्य)

† आनन्दगिरि कहता है, कि गाथा गायत्री आदि छन्दों से भिन्न छन्दों में होती है, तथापि यह गाथा (या, शंकराचार्य के अनुसार अनुगाथ) प्रायः गायत्री छन्द में है। इस का असली पाठ यह है "यतोयत आवर्तते, तत्तद् गच्छति मानवः, कुरूनश्वाभिरक्षति"। और यह किसी पुरानी ऐतीहासिक घटना से ली हुई प्रतीत होती है। इसमें कुरुओं में से किसी एक बड़े शूरवीर की और उस की घोड़ी की महिमा गाई गई है—अर्थ यह है 'जहां २ से (सेना) पीछे लौटती है वहां २ वह मानव (मनु की सन्तान) पहुंचता है। घोड़ी कुरुओं की रक्षा करती है (अर्थात् घोड़ी बड़े वेग से कुरुओं की सहायता के लिये उसे वहां पहुंचाती है, जहां उसकी सेना के पाओं उखड़ गए हैं)'। यह गाथा यज्ञ को सफल बनाते हुए ब्रह्मा के विषय में लगाई गई है, कि जहां कहीं वह यज्ञ में क्षति देखता है, वहीं पहुँचता है, और कुरुओं की अर्थात् यज्ञ के करने वालों की रक्षा करता है॥

ब्रह्मा यज्ञ की यजमान की और सारे ऋत्विजों की रक्षा करता है। इसलिए उसी को ब्रह्मा बनाना चाहिए, जो यह (१६, १७ खण्ड की विद्या को) जानता है, उसको नहीं, जो यह नहीं जानता, हां, उसको नहीं, जो यह नहीं जानता ॥ १० ॥

पांचवां प्रपाठक * (पहला खण्ड)

यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद, ज्येष्ठश्च ह वै श्रेष्ठश्च भवति । प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च ॥ १ ॥

† जो सबसे बड़े और सबसे अच्छे को जानता है, वह सब से बड़ा और सब से अच्छा बन जाता है ‡ । प्राण निःसन्देह सबसे बड़ा और सब से अच्छा है § ॥ १ ॥

---

* इस प्रपाठक का उद्देश्य उन भिन्न २ मार्गों का प्रकट करना है, जिन पर लोग मरने के पीछे चलते हैं। इन मार्गों में से एक देवपथ है जो ज्ञानियों का मार्ग है। जो ब्रह्म को प्राप्त कराता है, जहां से पुनरावृत्ति नहीं होती। जैसा कि पूर्व ४। १५ में वर्णन किया है। दूसरा कर्मियों का है। और तीसरा उनका है जो उभय भ्रष्ट हैं, जिनका वर्णन यहीं होगा ॥

† पिछले ग्रन्थ में अध्यात्मोपासना में प्रायः प्राण का ग्रहण किया गया है, इसका हेतु यह है, कि इस जीवित पुरुष में प्राणही सबसे श्रेष्ठ है। यह यहां दिखलाते हैं। यह सारा विषय बृहदारण्यक ६। १ में भी है उससे मिलाओ ॥

‡ 'तं यथा यथोपासते तदेव भवति'। सब से बड़ा होने से यह अभिप्राय है, कि वह बहुत बड़ी आयु को भोगता है ॥

§ प्राण सब से बड़ा इस लिए है, कि वह गर्भ में दूसरे इन्द्रियों के प्राप्त होने से पहले अपना काम आरम्भ करता है। दूसरे इन्द्रिय अपने २ स्थानों के बनजाने पर पीछे अपना काम आरम्भ करते हैं। और प्राण की श्रेष्ठता यहां ही निर्धारण करेंगे ॥

यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां भवति । वाग्वाव वसिष्ठः ॥ २ ॥

जो सबसे बढ़कर अमीर को जानता है, वह अपनों में सबसे बढ़कर अमीर होता है। वाणी निःसंदेह सबसे बढ़कर अमीर है॥२॥

यो ह वै प्रतिष्ठां वेद,प्रति ह तिष्ठत्यस्मिꣳश्च लोके ऽमुष्मिꣳश्च चक्षुर्वाव प्रतिष्ठा ॥ ३ ॥

जो दृढ़ स्थिति को जानता है, वह इस लोक और उस लोक में दृढ़ स्थित होता है। नेत्र निःसंदेह दृढ़ स्थिति है ॥ ३ ॥

यो ह वै सम्पदं वेद, सꣳहास्मै कामाः पद्यन्ते दैवाश्च मानुषाश्च । श्रोत्रं वाव सम्पत् ॥ ४ ॥

जो सम्पदा को जानता है, उसकी दैवी और मानुषी दोनों प्रकार की कामनाएं सम्पन्न (सफल) होती हैं, श्रोत्र निःसंदेह सम्पदा है ॥ ४ ॥

यो ह वा आयतनं वेदायतनꣳ ह स्वानां भवति मनो ह वा आयतनम् ॥ ५ ॥

जो घर (आश्रय) को जानता है, वह अपनों का घर बनता है। मन निःसंदेह घर है * ॥ ५ ॥

---

* वाणी सब से बढ़कर अमीर है, क्योंकि अच्छा बोलने वाले दूसरों को दबालेते हैं। नेत्र दृढस्थिति है क्योंकि नेत्र से देखता हुआ पुरुष सम और विषम दोनों जगह दृढ खड़ा होसक्ता है। श्रोत्र सम्पदा है, क्योंकि श्रोत्र से वेद सुना जाता है, और तदनुसार कर्म करने से संपदा मिलती है। मन घर है, क्योंकि इन्द्रिय जो अपने २ विषयों के ज्ञान की भेंट आत्मा को देना चाहते हैं, वह मन में रख देते हैं (शंकराचार्य)

अथ ह प्राणा अहं श्रेयसि व्यूदिरे, 'अहं श्रेयानस्म्यहं श्रेयानस्मीति'।६। ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरमेत्योचुः 'भगवन्! को नः श्रेष्ठ इति'। तान् होवाच 'यस्मिन् व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्येत, स वः श्रेष्ठ'इति ॥ ७ ॥

'मैं श्रेष्ठ हूं' इस विषय में प्राणों (मुख्य प्राण और इन्द्रियों) का झगड़ा हुआ * (हरएक कहता था) 'मैं श्रेष्ठ हूं, मैं श्रेष्ठ हूं' ॥ ६ ॥

तब वह प्राण अपने पिता प्रजापति के पास गए और कहा 'भगवन्! कौन हम में से श्रेष्ठ है'। उसने उत्तर दिया 'तुम में से जिस के निकल जाने पर यह शरीर बहुत बुरा सा दीखे, वह तुम में श्रेष्ठ है' ॥ ७ ॥

सा ह वागुच्चक्राम, सा संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच। 'कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति'। 'यथा कला अवदन्तः प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति' प्रविवेश ह वाक् ॥ ८ ॥

तब वाणी बाहर चली गई, और वह बरस भर बाहर रह कर वापिस आई और कहा 'कैसे तुम मेरे विना जीसके?' उन्होंने उत्तर दिया 'जैसे गूंगे न बोलते हुए, पर प्राण से सांस

---

* यह आख्यायिका (प्राण संवाद, वा प्राण विद्या) बृह०आर० उप० ६।१। १-१४; माध्यान्दिन शतपथ १४। १८। २; ऐत०आ० २।४; कौषी० उप० ३। ३ और प्रश्न० उप० २। ३ में भी है॥

लेते हुए, नेत्र से देखते हुए, श्रोत्र से सुनते हुए, और मन से ध्यान (ख्याल) करते हुए (जीते हैं) वैसे (हम जिये)'। तब वाणी (अपनी जगह) प्रविष्ट होगई ॥ ८ ॥

चक्षुर्होच्चक्राम। तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच 'कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति'। 'यथाऽन्धा अपश्यन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति' प्रविवेश ह चक्षुः ॥ ९ ॥

अब नेत्र चला गया और वह बरसभर बाहर रहकर वापिस आया और कहा 'कैसे तुम मेरे बिना जीसके?' उन्होंने उत्तर दिया 'जैसे अन्धे न देखते हुए, पर प्राण से सांस लेते हुए, वाणी से बोलते हुए, श्रोत्र से सुनते हुए, मन से चिन्तन करते हुए (जीते हैं) वैसे (हम जिये)'। नेत्र भी प्रविष्ट होगया ॥ ९ ॥

श्रोत्रꣳ होच्चक्राम। तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच 'कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति'। 'यथा बधिरा अशृण्वन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा ध्यायन्तो मनसैवमिति'। प्रविवेश ह श्रोत्रम् ॥ १० ॥

अब श्रोत्र चला गया और वह बरसभर बाहर रहकर वापिस आया और कहा 'कैसे तुम मेरे बिना जीसके'? उन्होंने उत्तर दिया 'जैसे बहरे न सुनते हुए भी, प्राण से सांस लेते हुए, वाणी से बोलते हुए और मन से चिन्तन करते हुए जीते हैं, वैसे (हम जिये) तब श्रोत्र भी प्रविष्ट होगया ॥ १० ॥

मनो होच्चक्राम। तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच

'कथमशकतर्ते मज्जीवितुमिति' । यथा बाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेणैवमिति' । प्रविवेश ह मनः ॥११॥

अब मन चला गया, और वह बरस भर बाहर रहकर वापिस आया और कहा 'कैसे तुम मेरे बिना जी सके ?' (उन्होंने उत्तर दिया) 'जैसे बाल जो अभी बिना मन के हैं (जो देखते तो हैं, पर अभी उनमें संकल्प विकल्प नहीं उठते) प्राण से सांस लेते हुए, वाणी से बोलते हुए, नेत्र से देखते हुए और श्रोत्र से सुनते हुए (जीते हैं) वैसे (हम जिये) तब मन (भी अपनी जगह) प्रविष्ट होगया ॥ ११ ॥

अथ ह प्राण उच्चिक्रमिष्यन्त्सयथा सुहयः पड्वीशशङ्कून संखिदेदेवमितरान्प्राणान समखिदत । त ७ हाभिसमेत्योचुः 'भगवन्नेधि, त्वन्नः श्रेष्ठोऽसि, मोत्क्रमीरिति' ॥ १२ ॥

अब प्राण जब निकलने को तय्यार हुआ, तो उसने दूसरे प्राणों (इन्द्रियों) को इस तरह उखाड़ दिया, कि जैसे एक उत्तम घोड़ा आगाड़ी पिछाड़ी के कीलों को उखाड देता है (जब वह चलने को होता है)। तब (इन्द्रिय) उसके पास आए और कहा 'भगवन् ! तुम हो (हमारे स्वामी,) तुम हम में से श्रेष्ठ हो, बाहर मत निकलो' ॥ १२ ॥

अथ हैनं वागुवाच 'यदहं वसिष्ठोऽस्मि त्वं तद्

वासिष्ठोऽसीति'। अथ हैनं चक्षुरुवाच 'यदहं प्रति-ष्ठास्मि, त्वं तत्प्रतिष्ठासीति' ॥ १३ ॥

तब उसे वाणी ने कहा 'जो मैं सब से बढ़ कर अमीर हूं, वह तुम सब से बढ़कर अमीर हो (मेरी अमीरी सारी तेरे अधीन है, इस लिए वह तेरी ही है')। नेत्र ने कहा 'जो मैं दृढ़स्थिति हूं, वह तू दृढस्थिति है' ॥ १३ ॥

अथहैन ँ श्रोत्रमुवाच 'यदह ँ सम्पदस्मि त्वं तत्सम्पदसीति'। अथ हैनं मन उवाच 'यदहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति' ॥ १४ ॥

श्रोत्र ने कहा 'जो मैं सम्पदा हूं, वह तू सम्पदा है'। मन ने कहा 'जो मैं घर हूं, वह तू घर है' ॥ १४ ॥

न वै वाचो न चक्षू ँषि न श्रोत्राणि न मना ँसीत्याचक्षते, प्राणा इत्येवाचक्षते, प्राणोह्येवैतानि सर्वाणि भवति ॥ १५ ॥

सो लोग (उन सारे इन्द्रियों को) न वाणी कहते हैं, न नेत्र, न श्रोत्र, न मन (कहते हैं) किन्तु प्राण यही कहते हैं, क्योंकि प्राणही यह सारे है * ॥ १५ ॥

---

* यदि वाणी, नेत्र श्रोत्र वा मन इन में से कोई सब से बढ़कर श्रेष्ठ, इन सब का आश्रय, सबका मालिक होता, तो सारे उसी के नाम से पुकारे जाते। प्राण सबसे श्रेष्ठ है, दूसरे इन्द्रियों की स्थिति भी प्राण के ही अधीन है। इसलिए प्राण यही नाम सारे इन्द्रियों का है॥

दूसरा खण्ड

सहोवाच 'किं मेऽन्नं भविष्यतीति' 'यत्किञ्चिदिद-माश्वभ्य आशकुनिभ्य इति' होचुः । तद्वाएतदन-स्यान्नं अनो ह वै नाम प्रत्यक्षम् । न ह वा एवंविदि किञ्चनानन्नं भवति ॥ १ ॥

उस (प्राण) ने कहा 'मेरा अन्न क्या होगा ?' उन्होंने उत्तर दिया ' जो कुछ यह है कुत्तों तक और पक्षियों तक *' । इसलिए यह अन का अन्न है । अन यह नाम साफ है † । जो यह जानता है इसके लिए कोई वस्तु अनन्न नहीं होती है ‡ ॥ १ ॥

सहोवाच 'किं मे वासो भविष्यतीति 'आप इति होचुः, तस्माद्वा एतदशिष्यन्तःपुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति । लम्भुको ह वासो भवत्यनग्नो ह भवति ।२।

उसने कहा 'मेरा वस्त्र क्या होगा ?' उन्होंने उत्तर दिया 'जल' । इसलिए जब खाना खाने लगते हैं, तो पहले और पीछे जलों से ढांप देते हैं § वह सदा वस्त्र लाभ करता है और कभी

---

* अभिप्राय यह है, कि हर एक प्रकार का अन्न चाहे वह कुत्तों से खाया जाता है, वा पक्षियों से, प्राण की ही खुराक है ॥

† सारे प्राणोंका अन यह नाम असली है, प्र+अन=प्राण अप+अन=अपान आदि उसके विशेषकार्यों के हेतु उसके विशेष नाम है ॥

‡ यह अभिप्राय नहीं, कि ऐसा जानने वाले के लिए भक्ष्या-भक्ष्य का भेद नहीं रहता, किन्तु ऐसा जानने वाले ने प्राणों की रक्षा के उद्देश्य से जो कुछ भी खाया है, वह उसे पापी नहीं ठह-राता (देखो पूर्व १ । ८ में उपस्ति चाक्रायण का इतिहास) ॥

§ अर्थात् खाने से पहले और पीछे जो आचमन किया जाता है वह प्राण को वस्त्र पहनाना (ढांपना) है ॥

नंगा नहीं होता है (जो यह जानता है) ॥ २ ॥

तद्धैतत् सत्यकामो जाबालो गोश्रुतये वैयाघ्रपद्या योक्त्वोवाच 'यद्यप्येनच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयज्जायेरन्नेवास्मिञ्छाखाः प्ररोहेयुः पलाशानीति' ॥ ३ ॥

यह रहस्य सत्यकाम जाबाल ने गोश्रुति वैयाघ्रपद्य (व्याघ्रपाद् की सन्तान) को उपदेश करके कहा 'कि यदि कोई इसे सूखी छड़ी को भी उपदेश करे, तो उस में भी शाखाएं उत्पन्न होजाएं, और पत्ते फूट निकलें' ॥ ३ ॥

अथ यदि महज्जिगमिषेदमावास्यायां दीक्षित्वा पौर्णमास्या ७ रात्रौ सर्वौषधस्य मन्थं दधिमधुनोरुपमथ्य 'ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहे' त्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत् ॥ ४ ॥

* अब यदि वह महिमा [बड़ाई] को पहुंचना चाहता है, तो उसे चाहिये, कि वह पहिले अमावास्या के दिन दीक्षा † लेकर फिर पौर्णमासी की रात्री को हर एक प्रकार की ओषधियों के चूर्ण को [किसीपात्र में] दही और शहद में विलोकर रखदे, और 'सबसे बड़े के लिये और सबसे श्रेष्ठ के लिये

---

* अब महत्त्व की प्राप्ति के लिये मन्थकर्म बतलाते हैं इस का अधिकारी पूर्वोक्त प्राणविद्या का जानने वाला है । मिलाओ बृह० आर० उप० ५ । ३ ।

† यहां असली दीक्षा (जो सोमयज्ञों के आरम्भ की विधि है) से तात्पर्य नहीं, किन्तु तप, सत्य वचन, ब्रह्मचर्य आदि दीक्षा के धर्म पालन से तात्पर्य है ॥

स्वाहा' यह कहते हुए (आवसथ्य अग्नि में) घी की आहुति देकर [स्रुवसे लगेहुए] संस्रव [चूते हुए घी] को मन्थ में डाले ॥४

'वसिष्ठाय स्वाहे' त्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पात मवनयेत् । 'प्रतिष्ठायै स्वाहे' त्यग्नावाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत् । 'सम्पदे स्वाहे' त्यग्ना-वाज्यास्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत् । 'आयतनाय स्वाहे' त्यग्ना वाज्यस्य हुत्वा मन्थे सम्पातमवनयेत्॥५॥

[इसी प्रकार] 'सबसे बड़े अमीर के लिये स्वाहा' यह कह कर घी की आहुति देकर संस्रव को मन्थ में डाले। 'दृढस्थिति के लिए स्वाहा' यह कह कर अग्नि में घी की आहुति देकर संस्रव को मन्थ में डाले। 'सम्पदा के लिए स्वाहा' यह कहकर अग्नि में घी की आहुति देकर संस्रव को मन्थ मे डाले। 'घर के लिए स्वाहा' यह कह कर अग्नि में घी की आहुति देकर संस्रव को मन्थ में डाले * ॥ ५ ॥

अथ प्रतिसृप्याञ्जलौ मन्थ माधाय जपति 'अमो नामास्यमा ते सर्व मिद ँ स हिं ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाऽधिपतिः ज्यैष्ठ्य ँ श्रैष्ठ्य ँ राज्यमाधिपत्यं गमयत्वहमेवेद ँ सर्व मसानीति' ॥ ६ ॥

तब (अग्नि से) थोड़ा पीछे हट कर मन्थ को अञ्जलि में रख कर जप करे 'तू हे प्राण अम नाम वाला है,' † क्योंकि यह सब

* जो ४ गुण पूर्व (४।१।२-४ में) प्राण, वाणी, नेत्र, श्रोत्र और मन से बतलाए हैं, उन्हीं नामों से यहां आहुतियां कही हैं॥

† मिलाओ० छ० आ० उप० १।१।३।२२

(सारा जगत) तेरे साथ है (अमा) तेरे साथही सब प्राणधारियों की सत्ता (हस्ती) है। वह प्राण सब से बड़ा है,सब से श्रेष्ठ है,राजा है,अधिपति (स्वतन्त्र मालिक) है। वह मुझे सब से बड़ा,सब से श्रेष्ठ राजा और अधिपति बनाए। मैंही यह सब कुछ हो जाऊं' ॥ ६ ॥

अथखल्वेतयर्चा पच्छः आचामति 'तत्सवितुर्वृणीमहे' इत्याचामति। 'वयं देवस्य भोजनम्' इत्याचामति । 'श्रेष्ठ ꣳ सर्वधातमम्" इत्याचामति। 'तुरं भगस्य धीमहि' इति सर्वं पिबति ॥ ७ ॥

तब वह इस ऋचा के एक २ पाद से (उस मन्थ में से) आचमन करे 'तत्सवितुर्वृणीमहे' यह कह कर आचमन करे 'वयं देवस्य भोजनम्' यह कह कर आचमन करे "श्रेष्ठं सर्वधातमम्" यह कह कर आचमन करे 'तुरं भगस्य धी महि *' यह कह कर सारा पी लेता है ॥ ७ ॥

निर्णिज्य क ꣳ सं चमसं वा पश्चादग्नेः संविशति चर्मणि वा स्थण्डिले वा वाचंयमोऽप्रसाहः । स यदि स्त्रियं पश्येत्, समृद्धं कर्मेति विद्यात् ॥ ८ ॥

कंसे वा चमसे को धोकर (रख देता है और) वह अग्नि के के पीछे चमड़े (मृगाजिन) पर वा नंगी भूमि पर बैठ जाता है,

* सारे मन्त्र का अर्थ यह है, 'हम सविता देव (प्राण) के उस अन्न को पसन्द करते हैं, जो सब से अच्छा और सब से बढ़ कर सब का धारण करने वाला है। हम भग (सविता, प्राण) के वेगको चिन्तन करते हैं' यहां सविता और प्राण की एकता करके यह ऋचा दिखलाई गई है ॥

न बोलता हुआ, न कोई और साहस करता हुआ। अब यदि वह स्वप्न में स्त्री को देखे, तो यह जाने, कि उस का कर्म सफल हो गया है ॥ ८ ॥

तदेष श्लोकः 'यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियꣳ स्वप्नेषु पश्यति। समृद्धिं तत्र जानीयात् तस्मिन् स्वप्ननिर्शने तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने' ॥ ९ ॥

इस पर यह श्लोक है 'जब यह काम्य कर्मों में स्वप्न के अन्दर स्त्री को देखता है, तो वह उस (कर्म) में सफलता जाने, ऐसे स्वप्न के देखने पर, हां, ऐसे स्वप्न के देखने पर' ॥९॥

तीसरा खण्ड

श्वेतकेतुर्हारुणेयः पञ्चालानाꣳ समितिमेयाय। तꣳ ह प्रवाहणो जैवलिरुवाच 'कुमारानुत्वाऽशिषत् पितेति' 'स भगव' इति, ॥१॥

* श्वेतकेतु आरुणेय (अरुण का पोता) पञ्चालों की सभा में आया। प्रवाहण जैवलि † (जीवल की सन्तान) ने उसे कहा 'कुमार! क्या तुम पिता से शिक्षा पाचुके हो'? (उसने उत्तर दिया) 'हां भगवन्' ॥ १ ॥

'वेत्थ यदितोऽधिप्रजाःप्रयन्तीति' 'न भगव इति'

---

* यह कथा बृहदारण्यक ६ । २ और शतपथ १४ । ८ । १६ में पूरे विस्तार से कही गई है ॥

† यह वही क्षत्रिय ऋषि है, जिसने पूर्व (१ । ८ । १) उद्गीथ-विद्या में दो ब्राह्मणों को जीता है ॥

'वेत्थ यथा पुनरावर्तन्ता ३ इति' 'न भगव इति, 'वेत्थ पथोर्देवयानस्य पितृयाणस्य च व्यावर्तना ३ इति' 'न भगव इति' ॥ २ ॥

(प्रवाहण ने पूछा:) 'क्या तुम जानते हो, यह मनुष्य (मरकर) यहां से कहां जाते हैं' (उसने उत्तर दिया) ' नहीं हे भगवन् ' । ' तो क्या तुम जानते हो, जैसे वह फिर लौटते हैं' 'नहीं हे भगवन्' ' तो क्या तुम जानते हो, कहां देवों का और पितरों का मार्ग अलग २ होते हैं ' ' नहीं हे भगवन् ! ' ॥ २ ॥

'वेत्थ यथाऽसौ लोको न सम्पूर्यता ३ इति 'न भगव इति ' वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्तीति' नैव भगव इति ॥ ३॥

तो क्या तुम जानते हो, कि (यहां से लगातार जाते हुए लोगों से) वह लोक * क्यों भर नहीं जाता ? ' ' नहीं हे भगवन्!' ' तो क्या तुम जानते हो, कि किस तरह पांचवीं आहुति में जल पुरुष कहलाते हैं ' ' नहीं हे भगवन् ! ' ॥ ३ ॥

अथ नु किमनुशिष्टोऽवोचथाः ? यो हीमानि न विद्यात्, कथ ᳪ सोऽनुशिष्टो ब्रुवीतेति । सहायस्तः पितुरर्द्धमेयाय । त ᳪ होवाच 'अननुशिष्य वाव किल मा भगवानब्रवीदनु त्वाऽशिषामिति ॥४॥

' तब तूने कैसे कह दिया, कि मैं शिक्षा पाचुका हूं, ! जो पुरुष इन बातों को नहीं जानता वह कैसे कह सक्ता है, कि मैं

* वह लोक=पितरों का लोक (शंकराचार्य)

शिक्षा पाचुका हूं' ! तब वह शोकातुर हुआ अपने पिता के स्थान को वापिस आया, और कहा 'भगवन् ! पूरी शिक्षा दिये बिना ही आपने मुझे कहा, कि तुझे शिक्षा देदी है" ॥ ४ ॥

पञ्च मा राजन्यबन्धुः प्रश्नानप्राक्षीत्, तेषां नैकञ्चनाशकं विवक्तुमिति' सहोवाच 'यथा मा तदैतानवदो, यथाऽहमेषां नैकञ्चन वेद, यद्यहमिमानवेदिष्यं, कथं ते नावक्ष्यमिति' ॥ ५ ॥

पांच प्रश्न मुझे उस क्षत्रियबन्धु*ने पूछे हैं, उनमें से मैं एक का भी उत्तर नहीं देसका, 'पिता ने कहा' जैसा तूने मुझे उसके यह प्रश्न बतलाए हैं, † इन में से तो मैं भी एक भी नहीं जानता, यदि मैं इनको जानता, तो कैसे तुझे न कह देता' ? ॥ ५ ॥

सह गौतमो राज्ञोऽर्द्धमेयाय। तस्मै ह प्राप्तायार्हाञ्चकार। सह प्रातःसभाग उदेयाय। त ७ होवाच 'मानुषस्य भगवन् ! गौतम ! वित्तस्य वरं वृणीथाइति' सहोवाच 'तवैव राजन् मानुषं वित्तं, यामेव कुमारस्यान्ते वाचम भाषथास्तामेव मे ब्रूहीति' ॥६॥

* क्षत्रियबन्धु,वह, जिसके बन्धु क्षत्रिय हैं। जो क्षत्रियों में पढ़ा बढ़ा और पला है,उससे विद्या के विषयमें एक ब्राह्मण के पराजित होने में बहुत बड़ी त्रुटि जानकर श्वेतकेतु ने यह प्रयोग किया है ॥

† अक्षरार्थ—जैसा तूने तब अर्थात् आते ही मुझे उसके यह (प्रश्न) बतलाए हैं। पर इस वाक्य की बनावट साफ नहीं कुछ छूटा हुआ पाठ प्रतीत होता है। बृहदारण्यक का वचन साफ है 'हे बेटा तुम मुझे ऐसा जानो, कि जो कुछ मैं जानता था, वह सब तुझे बतला दिया है' ॥

तब गौतम (श्वेतकेतु का पिता) राजा के स्थान को गया और जब वह वहां पहुंचा, तो राजा ने उसका आदर किया। प्रातःकाल जब राजा सभा में गया, तो गौतम उसके पास पहुंचा राजा ने उसे कहा 'भगवन्! गौतम! ऐसा वर कोई एक मांग लो, जो मानुष धन से सम्बन्ध रखता हो (अर्थात् कुछ रुपया वा ग्राम आदि,) उसने उत्तर दिया 'हे राजन्! मानुष धन तेरा ही रहे। मुझे तो वही बात बतलाओ, जो कुमार (मेरे पुत्र) के पास तुमने कही है' ॥ ६ ॥

सह कृच्छ्री बभूव, तꣳह चिरं वसेत्याज्ञापयाञ्चकार। तꣳहोवाच 'यथा मा त्वं गौतमावदो, यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति, तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्य प्रशासनमभूदिति तस्मैहोवाच ॥७॥

राजा बड़ा तंग (दिक) हुआ, और उसे आज्ञा दी, 'कुछ समय मेरे पास ठहरो' और उसे कहा 'जैसा है गौतम! तुमने मुझे कहा है (कि मुझे वही बात बतलाओ, जो कुमार के पास तुमने कही है) सो यह विद्या तुझसे पहले किसी ब्राह्मण को नहीं मिली, और इसलिए यह शासन (इस विद्या से शिष्यों को शिक्षा देना) सारे लोकों में केवल क्षत्रिय वर्ण का ही रहा है, तब राजा ने उसे यह बतलाया ॥ ७ ॥

चौथा खण्ड *

असौ वाव लोको गौतमाग्नि स्तस्यादित्य एव

---

* पांचवें प्रश्न (किस तरह जल पांचवीं आहुति में पुरुष कहलाते हैं) का उत्तर पहले आरम्भ करते हैं, क्योंकि दूसरे प्रश्नों का निर्णय इस प्रश्न के निर्णय के अधीन है ॥

समिद् रश्मयोधूमोऽहरर्चिश्चन्द्रमा अंगारा नक्षत्राणि विस्फुलिंगाः ॥ १ ॥

*वह (द्यौ) लोक हे गोतम! अग्नि है, सूर्य ही उसकी समिधा है,

---

* शतपथब्राह्मण में यह वर्णन है, कि अग्निहोत्र के विषय में जनक ने याज्ञवल्क्य से छः प्रश्न पूछे थे (१) कि यह दोनों (अर्थात् सायं प्रातः की) आहुतियें, किस तरह इस लोक से ऊपर उठती हैं ? (२) किस तरह आगे जाती हैं ? (३) कहां ठहरती हैं ? (४) क्या वहां फल देती हैं ? (५) किस तरह फिर इस लोक की ओर लौटती हैं ? (६)-और इस लोक में आकर फिर कैसे उठती हैं ?

इन प्रश्नों में अग्निहोत्र का वह साधारण फल नहीं पूछा गया, जो इसी लोक और इसी जीवन में मिल जाता है, अर्थात् जो होमा हुआ द्रव्य अग्नि से छिन्न भिन्न होकर ऊपर उठता है, और वह आकाश में आगे जाता हुआ, ऊंचा जा ठहरता है, वहां वह वायु और उसमें स्थित जल को स्वच्छ और पुष्ट करता है, मेघ के रूप में नीचे उतरता है और ओषधि आदि के रूप में फिर इस लोक में उठता है। किन्तु अग्निहोत्र का यहां वह असाधारण फल पूछा गया है जो यजमान को परलोक में और पर जन्म में मिलता है। होम की हुई आहुतियें जिस तरह एक सूक्ष्मरूप धारण करके आकाश में प्रवेश करती हैं उसी तरह एक दूसरा अत्यन्त सूक्ष्मरूप धारकर आहुति देने वाले के अन्तःकरण में प्रवेश करती हैं। यह रूप वह है, जो श्रद्धा से यथाविधि आहुति देते समय एक आस्तिक पुरुष के चित्त पर उस कर्म के शुभ संस्कार पड़ते हैं। इन्हीं संस्कारों को वासना, अपूर्व और अदृष्ट भी कहते हैं। यही वह धर्म है, जो मरने के पीछे मनुष्य के साथ जाता है। अब आहुतियों के दो रूप बन गए, एक जो सूक्ष्मरूप से आकाश में प्रवेश करता है, और दूसरा जो संस्कार रूप से अन्तःकरण में। इनमें से आकाश सबका सांझा है, इसलिये आकाश में प्रविष्ट आहुतियें सबके लिये सांझा फल उत्पन्न करती हैं अर्थात् वृष्टि। पर

रश्मियें धुआं हैं, दिन लाट है चन्द्रमा अंगारे हैं और नक्षत्र चिंगाड़ियां हैं १.

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति, तस्या आहुतेः सोमो राजा सम्भवति ॥ २ ॥

अन्तःकरण अपना २ अलग है, सो उसमें प्रविष्ट हुई आहुतियें (संस्कार) उसी के परलोक और परजन्म को संवारती हैं, जो उन का देने वाला है। यह आहुतियें किस तरह उसके परलोक और पर जन्म को संवारती हैं, उसके लिये यह छः प्रश्न हैं। अर्थात् वीहुई आहुतियें, जो संस्कार रूप से यजमान के चित्त में स्थित हैं, वह मरने के पीछे किस तरह ऊपर उठती हैं इत्यादि। वहां जो उत्तर दिये हैं, उनका सारांश यह है। यह सूक्ष्मरूप (वासनारूप) आहुतियें (सूक्ष्म शरीर में) यजमान को लपेटे हुए उसके साथ उठती हैं, जब वह इसलोक से ऊपर उठता है। फिर वह यजमान अन्तरिक्ष में प्रवेश करता है, तो वह उसके साथ अन्तरिक्ष में प्रवेश करती हैं। (यह अग्निहोत्र की आहुतियें हैं, इसलिये इनका फल प्रकट करने के लिये भी सब जगह अग्निहोत्र की ही कल्पना कीगई है। जैसे) जब अन्तरिक्ष में प्रवेश करती हैं, तो अन्तरिक्ष को आहवनीय बना लेती हैं, वायु को समिधा इत्यादि। वहां वह अन्तरिक्ष में रहकर यजमान को तृप्त करती हैं। फिर जब यजमान अन्तरिक्ष से ऊपर द्यौलोक में जाता है, तो वह उसके साथ द्यौलोक में जाती हैं। वहां वह द्यौलोक को आहवनीय बनाती हैं (इत्यादि) और फल देकर यजमान को तृप्त करती हैं। फिर जब फल भोगकर यजमान पृथिवी की ओर लौटता है, तो वह उसके साथ लौटती हैं। इस प्रकार शतपथ में इन के सविस्तर उत्तर दिये गए हैं। और यहां छान्दोग्य के इस प्रकरण में वह यजमान द्यौलोक से जिस प्रकार लौटता है, और जो २ रूप बनता चला आता है, उसका वर्णन है। यहां भी तद्वत् अग्निहोत्र की ही कल्पना की गई है, जैसाकि 'वह लोक अग्नि है' इत्यादि। यहां द्यौलोक से उतरने से आरम्भ करके मनुष्य जन्म लेने तक पांच अग्नियों की कल्पना की गई है। यही पञ्चाग्नि विद्या कहलाती है ॥

इस अग्नि में देवता श्रद्धा * की आहुति देते हैं, उस आहुति से राजा सोम (चन्द्र) † उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

पांचवां खण्ड

पर्जन्योवाव गौतमाग्निस्तस्यवायुरेवसमिदभ्रंधूमो विद्युदर्चिरशनिरङ्गारा ह्रादुनयो विस्फुलिंगाः ॥१॥

मेघ हे गौतम ! अग्नि है, वायुही उसकी समिधा है, धुंध धुआं है, बिजली लाट है, वज्र अंगार है, बिजली की कड़कें चिंगाड़ियां हैं।१।

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः सोम ँ राजानं जुह्वति तस्या आहुतेर्वर्ष ँ सम्भवति ॥ २ ॥

इस अग्नि में देवता सोमराजा की आहुति देते हैं, उस आहुति से वर्षा उत्पन्न होती है (अर्थात वही श्रद्धा नामी जल जो पहले परिणाम में सोमरूप हुए थे, अब दूसरे परिवर्तन में पर्जन्याग्नि को प्राप्त होकर वृष्टिरूप से परिणत होते हैं) ॥ २ ॥

छटा खण्ड

पृथ्वी वाव गौतमाग्नि स्तस्याः संवत्सर एव

---

* यहां श्रद्धा से अभिप्राय वह आहुतियें हैं, जो यजमान ने पहले अग्नि में होमी हुई हैं, और अब वासनारूप में यजमान के साथ हैं। यह आहुतियें होम के समय द्रवमय (घी, दूध आदि) वा द्रव प्रधान होती हैं, इसलिये इनको जल मानकर यह प्रश्न किया है, कि 'किस तरह जल पांचवीं आहुति में पुरुष कहलाते हैं' यह वही होम के जल (द्रव) अब श्रद्धारूप हैं (क्योंकि श्रद्धा के बल से इस रूप में आए हैं) जो यहां पहली आहुति की वस्तु हैं। श्रद्धा से जल अभिप्रेत हैं, इस पर देखो वेदान्त ३ । १ । ५ ॥

† वह श्रद्धा अब जिस रूप में परिणत होती है, वह सोम की प्रकृति वाला सोम कहलाता है ॥

समिदा काशो धूमो रात्रि रर्चिर्दिशोऽङ्गारा अवान्त-रदिशो विस्फुलिंगाः ॥ १ ॥

पृथ्वी हे गौतम ! अग्नि है, सम्वत्सर ही उसकी समिधा है आकाश धुआं है, रात्रि लाट है, दिशाएं आङ्गारे हैं, अवान्तर दिशाएं (कोणे) चिंगाड़ियां हैं ॥ १ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा वर्षं जुह्वति, तस्या आ-हुते रन्न ७ सम्भवति ॥ २ ॥

इस अग्नि में देवता वर्षा की आहुति देते हैं, उस आहुति से अनाज उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

सातवां खण्ड

पुरुषो वाव गौतमाग्निस्तस्य वागेव समित् प्राणो धूमो जिह्वाऽर्चिश्चक्षुरङ्गाराःश्रोत्रंविस्फुलिङ्गाः ॥१॥

पुरुष हे गौतम ! अग्नि है, वाणी ही उसकी समिधा है, सांस धुआं है, जिह्वा लाट है, नेत्र अंगारे हैं, श्रोत्र चिंगाड़ियां हैं ॥१॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा अन्नं जुह्वति, तस्या आहु तेः रेतः सम्भवति ॥ २ ॥

इस अग्नि में देवता * अन्न को होमते हैं, उस आहुति से वीर्य उत्पन्न होता है (अब वही पहली आहुति इस क्रम से वीर्य के रूप में परिणत होती है) ॥ २ ॥

---

* यहां देवता प्राण (इन्द्रिय) है, जो अधिदैवत में इन्द्रादि देवता हैं, वही अध्यात्म में प्राण आदि हैं ॥

आठवां खण्ड

योषा वाव गौतमाग्निस्तस्या उपस्थ एव समिद्यदुपमन्त्रयते स धूमो योनिरर्चिर्यदन्तः करोति तेऽङ्गारा अभिनन्दा विस्फुलिंगाः ॥

स्त्री हे गौतम अग्नि है ....* ॥ १ ॥

तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवा रेतो जुह्वति, तस्या आहुते गर्भः सम्भवति ॥ २ ॥

इस अग्नि में देवता (प्राण) वीज की आहुति देते हैं, उस आहुति से गर्भ उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

नवां खण्ड

इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसोभवन्तीति। स उल्बावृतो गर्भो दश वा मासानन्तः शयित्वा यावद्वाऽथ जायते ॥ १ ॥

इस प्रकार पांचवीं आहुति में जल पुरुष कहलाते † हैं। अब वह गर्भ चमड़े से लपेटा हुआ दस महीने अथवा जितना चिर (न्यून अधिक) अन्दर रह कर तब उत्पन्न होता है ॥ १ ॥

---

* शेष अर्थ मूल से देखो ॥

† यह पांचवें प्रश्न का उत्तर दिया गया, कि आहुति के जल जो द्यौ में श्रद्धारूप से वर्तमान थे, उनकी आहुति होकर सोम, सोम की आहुति होकर वृष्टि, वृष्टि की आहुति होकर अन्न, अन्न की आहुति होकर वीर्य और वीर्य्य की आहुति होकर पुरुष के रूप में फिर वापिस आ गए। अब इस के आगे पहले प्रश्न [क्या तू जानता है, कि कैसे यह प्रजाएं यहां से जाती हैं] का उत्तर आरम्भ करते हैं ॥

स जातो यावदायुषं जीवति, तं प्रेतं दिष्टमितोऽग्नय एव हरन्ति यत एवेतो यतः सम्भूतो भवति ॥ २ ॥

वह जन्म लेकर जब तक उसकी आयु है जीता है। जब वह मरता है, और अब जिसे कर्मों ने अगला रस्ता बतला दिया है। तो उसे अग्नि (चिताकी अग्नि) के लिए ही ले जाते हैं, जहां से (श्रद्धा आदि की आहुति के क्रम से) वह आया है, जहां से वह उत्पन्न हुआ है * ॥ २ ॥

दसवां खण्ड

तद्य इत्थं विदुर्ये चेमेऽरण्ये श्रद्धां तप इत्युपासते, तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरन्ह आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाण पक्षाद्यान् षडुदङ्ङेति मासाꣳस्तान् ॥१॥

वह जो इस प्रकार (इस पञ्चाग्नि विद्या को और पांच अग्नियों द्वारा अपने जन्म को) जानते हैं (वह चाहे गृहस्थ भी हों) और वह जो जंगल में श्रद्धा और तपमें तत्पर हैं, † वह अर्चि (लाट) को प्राप्त होते हैं ‡ अर्चि से दिन को, दिन से शुक्ल पक्ष के उन छः महीनों को, जिन में सूर्य उत्तर को जाता है (उत्तरायण) ॥ १ ॥

मासेभ्यः संवत्सरꣳ संवत्सरादादित्यमादित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः। स एनान् ब्रह्म गमयत्येष देवयानः पन्था इति ॥ २ ॥

---

* जहां से=पांच अग्नियों से। इस तरह बार २ जन्मता और मरता हुआ लोक परलोक में घूमता है ॥

† वानप्रस्थ और वह संन्यासी जिन्होंने अभी तक शुद्ध ब्रह्म का साक्षात् नहीं किया है ॥

‡ मिलाओ छान्दोग्य ४ । १५ । ५ ॥

महीनों से बरस को, बरस से सूर्य्य को, सूर्य से चन्द्रमा को, चन्द्रमा से बिजली (के स्थानों) को, वहां एक पुरुष है, जो अमानव है (मानुषी सृष्टि का नहीं) वह इनको ब्रह्म (शवल ब्रह्म=हिरण्यगर्भ) को पहुंचा देता है। यह देवयान मार्ग है ॥ २ ॥

अथ य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते, ते धूम मभिसम्भवन्ति, धूमाद्रात्रि ꣳ रात्रेरपरपक्ष मपरपक्षाद् यान् षड् दक्षिणेति मासा ꣳ स्तान्, नैते संवत्सर मभि प्राप्नुवन्ति ॥ ३ ॥

पर वह जो ग्राम में इष्ट और पूर्त (यज्ञ और दूसरे सर्वोपयोगी काम अर्थात् विद्यालय स्थापन करना आदि) और दान देने में तत्पर रहते हैं, वह धूम को प्राप्त होते हैं, धूम से रात्रि को, रात्रि से कृष्णपक्ष को, कृष्णपक्ष से उन छः महीनों को, जिनमें सूर्य दक्षिण को जाता है (दक्षिणायन को) यह संवत्सर को नहीं प्राप्त होते ॥३॥

मासेभ्यः पितृलोकं पितृलोकादाकाश माकाशा च्चन्द्रमसम्। एष सोमो राजा। तद् देवाना मन्नं, तं देवा भक्षयन्ति ॥ ४ ॥

महीनों से पितृलोक को, पितृलोक से आकाश को, आकाश से चन्द्रमा को यह सोम राजा है, वह देवताओं का प्यारा है, उस को देवता प्यार करते हैं* ॥ ४ ॥

---

* अक्षरार्थ—'वह देवताओं का अन्न है, उसे देवता भक्षण करते हैं' पर उपनिषदों में भक्ष केवल खाने और अन्न केवल अनाज के अर्थ में ही प्रयुक्त नहीं हुआ, किन्तु भक्ष, भोगने वा प्यार करने के अर्थ में और अन्न, प्यारी, चाही हुई, सुख देने वाली, वा रक्षा

तस्मिन्,यावत्संपात मुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशा माकाशा द्वायुं । वायुर्भूत्वा धूमो भवति । धुमो भूत्वा ऽभ्रं भवति ॥ ५ ॥

करने वाली हर एक वस्तु के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है। इसलिए हमने ऊपर अन्न का अर्थ प्यारा और भक्षयन्ति का अर्थ प्यार करते हैं, किया है। शंकराचार्य भी इसी आशय को प्रगट करते हुए लिखते है, कि यदि कर्मी जन चन्द्रलोक में पहुंचकर देवताओं का अन्न बन जाते हैं, और उन्हें देवता भक्षण करते हैं. तो उनके शुभ कर्मों का उनको क्या फल मिला ? इसलिए वह वस्तुतः खाए नहीं जाते। अन्न के अर्थ हैं,जिससे रक्षा होती है, वा जिससे सुख मिलता है, सो इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह देवताओं से खाए जाते हैं, किन्तु यह कि, देवताओं के आनन्दका हेतु बनते हैं। यह इसी तरह है, जैसा कि यह कहाजाता है, प्रजा स्त्री और पशु राजाओं का अन्न है,अर्थात् उनके भोग वा सुखका साधन है। और यह सुख परस्पर एक दूसरे को होता है नौकर मालिक के सुख भोगका साधन है, और मालिक नौकर के सुखभोगका साधन है। पुरुष स्त्री को प्यार करता है, और उससे प्यार किया जाता है, वह परस्पर एक दूसरे को प्यार करते हैं। एक दूसरे के सुख का हेतु हैं। इसी प्रकार वह कर्मी जन देवताओं से प्यार किए जाते हैं, अर्थात् वह देवताओं के साथ सुख और आनन्द भोगते हैं, उनका शरीर उस आनन्दके भोगने के योग्य बन जाता है। जो जल द्यौ में श्रद्धारूप था, वह आहुति हो कर यहां सोम राजा है (छांदो० ५।४।१-२) केवल कर्मी जब मरता है और जलाया जाता है। छांदो०५।९।२) तो उसका सुक्ष्म देह उन के कर्मों के संस्कारों को लेकर धूम के साथ ऊपर उठता है, और वह संस्कार उसे सोम की ओर ले जाते हैं,जहां वह अपने कर्मों का फल भोगता है, जब उसके कर्म समाप्त होजाते हैं, तो वह फिर वापिस आता है और नया जन्म ग्रहण करता है ॥

वह वहां (चन्द्रमण्डल में) उतनी देर रहते हैं, जब तक उनके कर्म क्षीण नहीं होते, तब वह उसी मार्ग को फिर लौटते हैं, जैसे गयेथे*। पहले आकाश को,† आकाश से वायु को। वायु बनकर वह (यजमान) धूम बनता है, धूम बनकर धुंध बनता है ॥५॥

अभ्रं भूत्वा मेघो भवति। मेघो भूत्वा प्रवर्षति। त इह व्रीहियवा ओषधि वनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते। अतोवै खलु दुर्निष्प्रपतरम्। यो योह्यन्न-मत्ति यो रेतः सिञ्चति, तद्भूय एव भवति ॥६॥

धुंध बनकर मेघ बनता है। मेघ बनकर बरसता है। तब वह धान, जौ, ओषधियें, वनस्पतियें, तिल और माष के रूप में यहां (पृथिवीमें) जन्म लेता है। यहां से उसे निकलना बड़ा कठिन है ‡।

---

* (प्रश्न) जाने में तो महीनों से पितृलोक को, पितृलोक से आकाश को, आकाश से चन्द्रमा को गये थे (छान्दो १०। ४) और आने में आकाश से वायु और वायु से धुएं को आए हैं। तब 'उसी मार्ग को फिर लौटते हैं'। यह कैसे कहा (उत्तर) अभिप्राय यह है, कि पृथिवी से चन्द्र को गए थे,अब चन्द्र से फिर पृथिवी को लौटते हैं। जाते समय आकाश से चन्द्र में पहुंचे थे, और आते समय भी वैसे चन्द्र से आकाश में आए हैं। सो मार्ग में यद्यपि भेद है, पर पहला स्थान (मनजल) एक है,और जहां पहुंचना है वह एक है।

† चन्द्रमण्डल में जो उनका शरीर था, वह अब विलीन होकर आकाश में आकाश की तरह अतिसूक्ष्मरूप में उतरता है,इसी प्रकार नीचे २ उतरता हुआ वायु और धूमआदि में तद्रूप बनता आता है।

‡ इस पर शंकराचार्य लिखते हैं कि जब वह मेघ द्वारा नीचे उतरते हैं और ओषधि वनस्पतियें, धान जौ, तिल माष आदि में से पार होकर जन्म ग्रहण करते हैं, इस अन्तर में उनके लिये बहुत

क्योंकि जो कोई (उस) अन्न को खाता है, और वीर्य सेचन करता है, वह पूरा तद्रूप (उसकी शकल) ही होजाता है ॥ ६ ॥

कठिनाइयां हैं। सब से पहली यह है, कि मेघ के बरसने के सहस्रों स्थान हैं, यदि यह पर्वत की चोटी पर बरसे, और वहां से नीचे ढल कर नदी में बहते हुए समुद्र में जापहुंचे ॥ वह किसी मछली वा समुद्रिय जन्तुने पीलिये। फिर उसको किसीदूसरे जन्तुने खालिया और वह वहां ही जब उस जन्तु के साथ समुद्र में विलीन हुए, तब समुद्र के जलों के साथ आकाश में खींचे गए, फिर मेंह की धाराओं के साथ मरु भूमि (रेगस्तान)में वा पत्थरों पर पड़े रहे। यहां वह कदाचित् व्याल और हिरण आदि से पिये गए, उनको किसी दूसरे जन्तु ने खालिया, और उसको फिर किसी दूसरे ने। इस प्रकार वह एक लम्बे चक्र में पड़ जाते हैं। अब जब वह ओषधि वनस्पतियों में आते हैं, तो उन पहिली कठिनाइयों से निकल आते हैं, और अब नई कठिनाइयों में पड़ते हैं। कदाचित् उन स्थावरों में भी आए, जो खाए गए, हैं, तथापि यदि वह बच्चों से वा बूढ़ों से खाए गए, वा उन से खाए गए जो गृहस्थ नहीं, वा उन से जो नपुंसक हैं, तो इस तरह वह यह अवसर भी अपने नये जन्म का खो देते हैं। यदि किसी युवक गृहस्थ से खाये गये, पर वह बन्ध्यवीर्य है, वा स्त्री बन्ध्या है, तो फिर उनका जन्म लेने का यह अवसर भी चूक जाता है, फिर जब कभी जाकर वह समर्थ पुरुषसे खाये जाते हैं, और समर्थ माता की कुक्षि में जाते हैं, तब वह नया जन्म ग्रहण करते हैं। वैसे जन्म जैसे पिता के शरीर में गये हैं। और यह उनका जाना कर्मानुसार होता है, इस में कुछ उलट पलट नहीं होता ॥

यह कठिनाइयां उन्हीं के लिये हैं, जो चन्द्रमण्डल से उतरे हैं, और स्थावर जन्मों में नहीं जाएंगे। जो पापकर्मी स्थावर जन्मों के योग्य हैं, वह शीघ्र अपने कर्मानुसार स्थावर जन्मों में चले जाते हैं। यह जो चन्द्रमण्डल से उतर कर स्थावरोंमें होकर आए हैं, स्थावरों में जाना उनके किसी कर्म का फल नहीं; किन्तु ब्राह्मणादि जन्म में

तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनि मापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वा । अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन् श्वयोनिं वा वा शूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा ॥ ७ ॥

अब वह जिनका कि बर्ताव यहां रमणीय (सुहावना, शुद्ध) रहा है, वह जल्दी उत्तम जन्म को प्राप्त होंगे, ब्राह्मण के जन्म को, वा क्षत्रिय के जन्म को वा वैश्य के जन्म को। पर वह जो यहां नीच बर्ताव वाले रहे हैं, वह जल्दी ही नीच योनिको प्राप्त होंगे, कुत्तेकी योनिको वा सूअर की योनिको, वा चण्डाल की योनि को ॥

अथैतयोः पथोर्न कतरेण च तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति, जायस्व म्रियस्वेत्येतत तृती य ७ स्थानम् । तेनासौ लोको न सम्पूर्यते । तस्माज्जुगुप्सेत । तदेष श्लोकः ॥ ८ ॥

आने के लिये यह उनका मार्ग है, और इसलिये वह इन स्थावरों में आकर कोई सुख दुःख नहीं भोगते। स्थावर उनका शरीर नहीं होता, किन्तु वह जैसे पहले आकाश, धुएं, धुन्ध और मेघ में मिल गए थे, ऐसे ही अब स्थावरों में मिल जाते हैं। और इसीलिये उन अनाजों के कूटने पीसने से वह उनसे निकल नहीं जाते, जबकि वह जीव उस समय उनसे निकल जातेहैं, जिनका कि वह स्थावर देह हैं।

और यह भी जानना चाहिये कि चन्द्रमण्डल में उनको ज्ञान होता है, और जब वह नीचे उतरते हैं, तो वह ज्ञान से शून्य (बेखबर) रहते हैं, जब तक कि उनको फिर मानुष जन्म देकर ब्रह्म को पहुंचने के योग्य बना दिया जाता है ॥

और जो इन दोनों मार्गों में से किसी से नहीं चले वह यह छोटे जन्तु (मक्खी मच्छर आदि) बार २ जन्म लेनेवाले बनते हैं जो जन्मते हैं और मरते हैं। यह तीसरा स्थान है (जहां मरकर जाते हैं)॥

इसलिए वह (चन्द्र) लोक भर नहीं जाता*(मिला ओ ५।३।२)

---

* यहां तक पांचों प्रश्नों के उत्तर दे दिये गए हैं। पहला किस तरह पांचवीं आहुति में जल पुरुष कहलाते हैं। इसका उत्तर पांच अग्नियों द्वारा पुरुष की उत्पत्ति बतलाते हुए दिया है। दूसरा मरने के पीछे मनुष्य कहां जाते हैं, इसका उत्तर-कुछ देवयान से ब्रह्मलोक को प्राप्त होते हैं, कुछ पितृयाण से चन्द्रलोक को प्राप्त होते हैं, कुछ यहीं बार २ जन्मते मरते हैं। तीसरा-कैसे फिर वापिस आते हैं, इसका उत्तर-कुछ ब्रह्म को पहुंच जाते हैं, दूसरे आकाशादि मार्ग से पृथ्वी को वापिस आते हैं। चौथा-कहां देवताओं का और पितरों का मार्ग अलग २ होते हैं। इसका उत्तर वह जो देवायान से जाते हैं, जब वह अयन (आधे बरस) से बरस को जाते हैं, तब पितृयाण वाले अयन से पितृलोक को जाते है। पांचवां कैसे वह लोक भर नहीं जाता। उत्तर-क्योंकि वह अपना फल भोगकर फिर इस लोक को वापिस आते हैं॥

इस विषय पर बहुत से विचार प्रकट किये गए हैं। पहला, वह कौन लोग हैं, जो देवयान से जाते हैं। उत्तर-पहले वह गृहस्थ जो पञ्चाग्नि विद्या और उसके द्वारा अपने जन्म को जानते हैं, जिसका यहां वर्णन हुआ है। जब कि दूसरे गृहस्थ जोकि साधारणतया यज्ञों को पूरा तो करते हैं; पर उनके असली रहस्य को नहीं जानते या वह जो दूसरे नेक काम करते हैं, वह पितृयाण से जाते हैं। दूसरे, वह जो गृहस्थ से वनको चले गए हैं, और वहां श्रद्धा और तप में रत हैं, अर्थात् वानप्रस्थ और वह परिव्राजक जो अभी शुद्ध ब्रह्म को साक्षात नहीं किये हैं। यह भी देवयान को जाते हैं। फिर प्रश्न उत्पन्न होता है, कि क्या ब्रह्मचारी भी देवमार्ग को जाते हैं। इसका उत्तर शंकराचार्य यह देतेहैं, कि स्मृति और पुराणोंमें नैष्ठिक ब्रह्मचारियों के

इसलिए अपने आपको बचाना चाहिए * (पाप में गिरने से)। इस पर यह श्लोक है— ॥ ८ ॥

स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिब ७ श्रगुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा च। एते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचर ७ स्तैरिति ॥ ९ ॥

'सोने का चुरानेवाला, सुरा (शराब) का पीने वाला, गुरुतल्प (स्त्री) गामी और ब्राह्मण का मारनेवाला यह चारों पतित होजाते हैं और पांचवां जो उनके साथ आहार व्यवहार रखता है ॥ ९ ॥

लिये देवयान बतलाया है, और उपकुर्वाणक ब्रह्मचारी आश्रमान्तरों में प्रवेश की योग्यता लाभ करने के लिये इस आश्रम को धारण किये हैं, उनका यह आश्रम अगले आश्रमों को संवार देता है, कोई स्वतन्त्र पारलौकिक फल नहीं रखता। पर हम यहां उपनिषद् में भी ब्रह्मचारी के लिये देवयान का कोई निषेध नहीं पाते। और प्रश्न १। १६ में यह वचन सब आश्रमियों के लिये देखते हैं 'उनके लिये वह धूलि रहित ब्रह्मलोक है, जिनमें कोई कुटिलता नहीं, कोई झूठ नहीं, और कोई छल नहीं'। वस्तुतः उन सब के लिये देवयान है, जो शबल ब्रह्म के उपासक हैं। हां वह जो शुद्ध को साक्षात् किये हैं, उनके लिये देवयान नहीं, वह साक्षात् ब्रह्म को पालेते हैं ॥

फिर यह विचार किया गया है, कि जब चन्द्रलोक में एक पुरुष अपने सारे कर्म भोग लेता है, तो वह फिर कैसे जन्म ले सक्ता है। जन्म पिछले कर्मों का विपाक (फल) है। जब पिछले सारे कर्म समाप्त होगए, तो फिर नया जन्म कैसे होसक्ता है। उत्तर इसका यह है, कि वह यज्ञ कर्म जिनका फल चन्द्र लोक में भोगा गया है, उनके सिवाय और कर्म भी हैं, जो उसका यहां लोगों के साथ बर्ताव रहा है। वह अभी भोगने वाले हैं, और उनके अनुसार वह यहां नया जन्म लेता है ॥

* अक्षरार्थ—उससे घृणा करनी चाहिये ॥

अथ ह य एतानेवं पञ्चाग्नीन् वेद, न सहैतैरप्याचरन् पाप्मना लिप्यते । शुद्धः पूतः पुण्यलोको भवति । य एवं वेद ॥ १० ॥

हां वह जो इन पांच अग्नियों को ठीक २ जानता है, वह उन के साथ आचरण करता हुआ भी पाप से लिप्त नहीं होता । शुद्ध पवित्र होकर पुण्य लोकों को प्राप्त होता है, जो इस रहस्य को जानता है, हां जो इस रहस्य को जानता है ॥ १० ॥

ग्यारहवां खण्ड

प्राचीनशाल औपमन्यवः सत्ययज्ञः पौलुषिरिन्द्रद्युम्नोभाल्लवेयो जनःशार्कराक्ष्यो बुडिलआश्वतराश्विस्ते हैते महाशाला महाश्रोत्रियाः समेत्य मीमाᳪसाञ्चक्रुः को न आत्मा किं ब्रह्मेति ॥ १ ॥

* प्राचीनशाल औपमन्यव (उपमन्यु की सन्तान), सत्ययज्ञ पौलुषि (पुलुष की सन्तान), इन्द्रद्युम्न-भाल्लवेय (भल्लवकापोता), जन-शार्कराक्ष्य (शर्कराक्ष्य की सन्तान), बुडिल आश्वतराश्वि (अश्वतराश्व की सन्तान), यह पांचों बडे गृहस्थ और बडे श्रोत्रिय (वेदवेत्ता) एक बार इकठ्ठे हुए, और यह विचार चलाया, कि हमारा आत्मा क्या है, ब्रह्म क्या है † ॥ १ ॥

ते ह सम्पादयाञ्चक्रुः । उद्दालको वै भगवन्तोऽयमारुणिः सम्प्रतीममात्मानं वैश्वानरमध्येति । तᳪ हन्ताभ्यागच्छामेति । तᳪ हाभ्याजग्मुः ॥ २ ॥

---

* यह कथा शतपथ ब्राह्मण १० । ६ । १ । १ में भी है ॥

† ब्रह्म जो सबका अन्तरात्मा (अन्तर्यामी) है ॥

उन्होंने निश्चय किया 'भगवन्तः! यह जो उद्दालक आरुणि (अरुण की सन्तान) है, यह इस वैश्वानर आत्मा को ठीक२ जानता है, आओ उसके पास चलें' तब वह उसके पास गए ॥२॥

स ह सम्पादयाञ्चकार 'प्रक्ष्यन्ति मामिमे महाशाला महाश्रोत्रियास्तेभ्यो न सर्वमिव प्रतिपत्स्ये। हन्ताऽहमन्यमभ्यनुशासानीति ॥ ३ ॥

उसने सोचा 'यह बड़े गृहस्थ और बड़े श्रोत्रिय जो कुछ मुझ से पूछेंगे, मैं उनकी सारी बातों को नहीं कह सकूंगा; अच्छा, मैं कोई और (शिक्षक) इन्हें बतलाऊं' ॥ ३ ॥

तान् होवाच 'अश्वपतिर्वै भगवन्तो कैकेयः सम्प्रती ममात्मानं वैश्वानरमध्येति। तꣳ हन्ताभ्यागच्छामेति। तꣳ हाभ्याजग्मुः ॥ ४ ॥

तब उसने उन्हें कहा 'हे भगवन्तः! अश्वपति कैकेय (केकय देश का राजा) इस वैश्वानर आत्मा को ठीक २ जानता है। आओ उसके पास चलें'। तब वह उसके पास गए ॥४॥

तेभ्यो ह प्राप्तेभ्यः पृथगर्हाणि कारयाञ्चकार। स ह प्रातः सञ्जिहान उवाच 'न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः। नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः। यक्ष्यमाणो वै भगवन्तोऽहमस्मि, यावदेकैकस्मा ऋत्विजे धनं दास्यामि, तावद् भगवद्भ्यो दास्यामि। वसन्तु भगवन्त इति' ॥५॥

जब वह पहुंचे तो राजा ने उन में से हर एक को अलग २ भेंट देने की आज्ञा दी और दूसरे दिन प्रातःकाल उठते ही उसने कहा 'मेरे देश में कोई चोर नहीं, कंजूस नहीं, शराब पीने वाला नहीं, अग्न्याधान (प्रतिदिन होम के लिये घर में अग्नि की स्थापना) से शून्य नहीं, विद्या से हीन नहीं, व्यभिचारी नहीं, व्यभिचारिणी कहां *। हे भगवन्तः ! मैं यज्ञ करने वाला हूं, जितना धन एक २ ऋत्विज को दूंगा, उतना आप में से हर एक को दूंगा। आप यहां वास करें ॥ ५ ॥

ते होचुः 'येन हैवार्थेन पुरुषश्चरेत्, तꣳ हैववदेदात्मानमेवेमं वैश्वानरꣳ सम्प्रत्यध्येषि, तमेव नो ब्रूहीति' ॥ ६ ॥

उन्होंने उत्तर दिया 'जिस प्रयोजन के लिये पुरुष घूम रहा हो, (आया हो), उसे वह बात कहनी चाहिये। आप इस वैश्वानर आत्मा को जानते हैं, वह हमें बतलाएं' ॥ ६ ॥

तान् होवाच 'प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मीति'। तेह समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे। तान् हानुपनीयैतदुवाच ॥ ७ ॥

उसने कहा 'मैं कल प्रातःकाल तुम्हें उत्तर दूंगा'। वह दूसरे दिन प्रातःकाल (विद्यार्थियों की तरह) हाथ में समिधा लिये

---

* राजा को इस बातके कहने की आवश्यकता कदाचित् यह है कि ब्राह्मण उस राजा से कुछ नहीं ग्रहण करते थे, जो अपने कर्तव्यों का पालन नहीं कर रहा, जो उसके अपनी प्रजा की ओर हैं ॥

हुए उसके पास पहुंचे । उसने उपनयन किये बिना ही * उनको यह कहा ॥ ७ ॥

बारहवां खण्ड.

'औपमन्यव कं त्वमात्मानमुपास्स इति' ? । 'दिव मेव भगवो राजन्निति'होवाच । 'एष वै सुतेजा आत्मा वैश्वनरो यं त्वमात्मान मुपास्से, तस्मात्तव सुतं प्रसुतमासुतं कुले दृश्यते ॥ १ ॥

'औपमन्यव ! तुम किस को आत्मा के तौर पर उपासते हो' † उसने उत्तर दिया 'केवल द्यौ को, हे भगवन् राजन् ! ' उसने कहा 'यह आत्मा सुतेजा (बड़े तेजवाला) वैश्वानर ‡ है, जिस आत्मा को तुम उपासते हो । इसलिये (सुतेजा वैश्वानर आत्मा

---

* शिष्य जब विद्या पढ़नेके लिये गुरु के पास जाता है,तो पहले उसका उपनयन होकर फिर विद्या सिखाई जातीहै। शिष्य जब पहले किसी आचार्य से शिक्षा पाचुकाहै,तो भी जबवह किसी दूसरे आचार्य्य के पास कुछ सीखने को जाता है, तो वहां फिर उपनयन पूरा किया जाता है । यहां भी यह ब्राह्मण इसी नियत से समिधा हाथ में लेकर राजा के पास आए थे । पर राजा उनके इस विनय से ही संन्तुष्ट है, कि यह ब्राह्मण होकर शिष्य के तौर पर मेरे पास आए हैं, जोकि ब्राह्मण नहीं हूं ॥

† जहां तक वह ज्ञान में पहले पहुंच चुके हैं, उस से आगे ले जाने के लिये उनके पहले ज्ञान को पूछ लिया है ॥

‡ द्यौ में जो आत्मा है,यह वही वैश्वानर है, जो इस सारे विश्व का नेता है, तथापि द्यौ उसकी एक छोटी सी महिमा का प्रकाशक है । जैसे आंख जीवात्मा की एक ही (देखने की) महिमा की प्रकाशक है, द्यौ में उसकी महिमा का दर्शन सारे विश्व में फैली हुई महिमा में से बहुत थोड़ी सी महिमा का दर्शन है ॥

की उपासना से) तुम्हारे कुल में सुत प्रसुत और आसुत * दीखता है ॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम् । अत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले, य एतमेव मात्मानं वैश्वानर मुपास्ते । मूर्धा त्वेष आत्मन इति' होवाच । 'मूर्धा ते व्यपतिष्यद् यन्मा नागमिष्य इति' ॥ २ ॥

तुम अन्न खाते हो (स्वस्थ और बलिष्ठ हो) प्रिय (पुत्र पौत्र आदि) देखते हो । जो कोई इस (द्यौ) वैश्वानर आत्मा को इस प्रकार उपासता है वह अन्न खाता है, प्रिय देखता है, और उनके कुल में ब्रह्मवर्चस (स्वाध्याय और धर्म का तेज) होता है, । पर यह आत्मा का केवल सिर है (न कि सम्पूर्ण वैश्वानर) और इसलिये तेरा सिर गिर जाता, यदि तू मेरे पास न आता ॥ २ ॥

तेरहवां खण्ड

अथ होवाच सत्ययज्ञं पौलुषिम् ' प्राचीनयोग्य ! कं त्वमात्मानमुपास्स इति' ' आदित्यमेव भगवो राजन्निति ' होवाच । 'एष वै विश्वरूप आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से, तस्मात् तव बहु विश्वरूपं कुले दृश्यते ॥ १ ॥

तब उसने सत्ययज्ञ-पौलुषि को कहा ' हे प्राचीनयोग्य तुम किस को आत्मा के तौर पर उपासते हो' उसने उत्तर दिया ' हे

* सोम को एकाह आदि अहर्गण में सुत, अहीन में प्रसुत, और सत्र में आसुत कहते हैं ॥

भगवन् राजन् ! केवल सूर्य को' । उसने कहा 'यह आत्मा विश्वरूप (सारे रूपों वाला) वैश्वानर है, जिस आत्मा को तुम उपासते हो, इसलिये तेरे कुल में बहुत और सब प्रकार का धन दीखता है ॥ १ ॥

प्रवृत्तोऽश्वतरीरथो दासीनिष्कोऽत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम्। अत्त्यन्नंपश्यतिप्रियंभवत्यस्यब्रह्मवर्चसं कुले, य एतमेवमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते, चक्षुष्ट्वेतदात्मन इति होवाच 'अन्धोऽभविष्यद्, यन्मांनागमिष्य इति'।२।

खच्चरों वाला रथ है, दासियें हैं, मुहरें हैं। तुम अन्न खाते हो, और प्रिय देखते हो। जो कोई इस वैश्वानर आत्मा को इस प्रकार उपासता है वह अन्न खाता है, प्रिय देखता है और इसके कुल में ब्रह्मवर्चस होता है, पर यह आत्मा का केवल नेत्र है, और तुम अन्धे होजाते, यदि तुम मेरे पास न आते ॥ २ ॥

चौदहवां खण्ड

अथ होवाचेन्द्रद्युम्नं 'भाल्लवेयं 'वैयाघ्रपद्य कंत्वमात्मान मुपास्स इति 'वायुमेव भगवो राजन्निति होवाच 'एष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानरो यंत्वमात्मान मुपास्से, तस्मात् त्वां पृथग् बलयः आयन्ति, पृथग रथश्रेणयो ऽनुयन्ति ॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम् । अत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले, य एतमेवात्मानं वैश्वानरमु-

पास्ते । प्राणस्त्वेष आत्मन इति' होवाच 'प्राणस्त उदक्रामिष्यद यन्मां नागमिष्य इति' ॥ ४ ॥

तब उसने इन्द्रद्युम्न भाल्लवेय को कहा 'वैयाघ्रपद्य ! तुम किस को आत्मा के तौर पर उपासते हो 'उसने उत्तर दिया' हे भगवन् राजन्!केवल वायुको। उसने कहा'यह आत्मा पृथग्वर्त्मात्मा(अलग२ मार्गों से बहने के स्वभाववाला) वैश्वानर है, जिसको तुम आत्मा के तौर पर उपासते हो, इसलिए (सब दिशाओं से) तुझे अलग २ उपहार (भेंटे) आते हैं, और अलग २ रथों की पंक्तियें तेरे पीछे चलती हैं । तुम अन्न खातेहो और प्रिय देखते हो । जो कोई इस वैश्वानर आत्मा को इस प्रकार उपासता है वह अन्न खाता है, प्रिय देखता है, और इसके कुल में ब्रह्मवर्चस होता है । पर यह आत्मा का प्राण है, तेरा प्राण निकलजाता, यदि तू मेरे पास न आता ॥ २ ॥

पन्द्रहवां खण्ड

अथ होवाच जन ७ 'शार्कराक्ष्य कं त्वमात्मान मुपास्स इति''आकाशमेव भगवो राजन्निति'होवाच 'एष वै बहुल आत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मानमुपास्से, तस्मात् त्वं बहुलोऽसि प्रजया च धनेन च ॥ १ ॥

तब उसने जन को कहा 'हे शार्कराक्ष्य,तुम किसको आत्मा के तौर पर उपासते हो'? उसने उत्तर दिया 'हे भगवन् राजन् ! केवल आकाश को' । उसने कहा 'यह आत्मा बहुल (बड़ा परिपूर्ण) वैश्वानर है, जिसको तुम आत्मा के तौर पर उपासते हो, इसलिये तुम प्रजा से और धन से भरे हुए हो' ॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम् । अत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले, य एतमेवमात्मानं वैश्वानरं मुपास्ते सन्देहस्त्वेष आत्मन इति' होवाच । 'सन्देहस्ते व्यशीर्यद्, यन्मां नागमिष्य इति ॥ २ ॥

अन्न खाते हो और प्रिय देखते हो । जो कोई इस वैश्वानर आत्मा को इस प्रकार उपासता है, वह अन्न खाता है, प्रिय देखता है, और इसके कुल में ब्रह्मवर्चस होता है । पर यह आत्मा का धड़ है, और तेरा धड़ टूट जाता, यदि तू मेरे पास न आता ॥२॥

सोलहवां खण्ड

अथ होवाच बुडिल माश्व तराश्विम् 'वैयाघ्रपद्य कं त्वमात्मान मुपास्स इति' 'अप एव भगवो राजन्निति' होवाच । 'एषवै रयिरात्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मान मुपास्से, तस्मात् त्वᳫ रयिमान् पुष्टिमानासि ॥ १ ॥

तब उसने बुडिल आश्वतराश्वि को कहा 'वैयाघ्रपद्य ! तुम किसको आत्मा के तौर पर उपासते हो?' उसने उत्तर दिया 'हे भगवन् राजन् ! केवल जलों को' । उसने कहा 'यह आत्मा रयि (धन) वैश्वानर है, जिसको तुम आत्मा के तौर पर उपासते हो, इसलिये तुम धन वाले हो और पुष्टि वाले (फलते फूलते) हो ॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम् । अत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले, य एतमेवमात्मानं वैश्वानर मुपास्ते, बस्तिस्त्वेष आत्मन इति' होवाच । बस्तिस्ते व्यभेत्स्यद्, यन्मां नागमिष्य इति' ॥ २ ॥

अन्न खाते हो और प्रिय देखते हो। जो कोई इस वैश्वानर आत्मा को इस प्रकार उपासता है, वह अन्न खाता है प्रिय देखता है, और इसके कुल में ब्रह्मवर्चस होता है। पर यह आत्मा का वास्ते (मूत्राशय) है, तेरा मूत्राशय फट जाता, यदि तू मेरे पास न आता ॥ २ ॥

सत्तरहवां खण्ड

अथ होवाचौद्दालक मारुणिम् 'गौतम ! कं त्वमात्मान मुपास्स इति' । 'पृथिवीमेव भगवो-राजन्निति' होवाच 'एषवै प्रतिष्ठाऽऽत्मा वैश्वानरो यं त्वमात्मान मुपास्से, तस्मात् त्वं प्रतिष्ठितोऽसि प्रजया च पशुभिश्च ॥ १ ॥

तब उसने औद्दालक आरुणि को कहा 'हे गौतम ! तुम किस को आत्मा के तौर पर उपासते हो' उसने उत्तर दिया 'हे भगवन् राजन् ! केवल पृथिवी को' उसने कहा 'यह आत्मा प्रतिष्ठा (दृढ़ स्थिति धर्म वाला) वैश्वानर है, जिसको तुम आत्मा के तौर पर उपासते हो, इसलिये तुम प्रजा से और पशुओं से प्रतिष्ठा वाले (दृढ़ खड़े) हो ॥ १ ॥

अत्स्यन्नं पश्यसि प्रियम् । अत्त्यन्नं पश्यति प्रियं भवत्यस्य ब्रह्मवर्चसं कुले, य एतमेवमात्मानं वैश्वानर मुपास्ते, पादौ त्वेतावात्मन इति' होवाच 'पादौ ते व्यम्लास्येतां, यन्मां नागमिष्य इति' ॥ २ ॥

अन्न खाते हो और प्रिय देखते हो। जो कोई इस वैश्वानर आत्मा को इस प्रकार उपासता है, वह अन्न खाता है, प्रिय देखता है और इसके कुल में ब्रह्मवर्चस होता है। पर यह आत्मा के पाद हैं। और तुम्हारे पाद कुम्हला (सूख) जाते, यदि तुम मेरे पास न आते ॥ २ ॥

अठारहवां खण्ड

तान् होवाच 'एतेवै खलु यूयं पृथिगिवेम मात्मानं वैश्वानरं विद्वाᳬसोऽन्नमत्थ। यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमान मात्मानं वैश्वानर मुपास्ते, स सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मस्वन्नमत्ति ॥ १ ॥

तब उसने उन सब को कहा 'तुम इस वैश्वानर*आत्मा को मानो अलग २ जानते हुए अन्न खाते हो। पर जो इस वैश्वानर आत्मा को इस प्रकार उपासता है, कि वह प्रादेशमात्र है और

---

*वैश्वानर भौतिक अर्थ में जाठराग्नि का नाम है। अर्थात् वह अग्नि जो हर एक प्राणधारी के अंदर है, जिसके द्वारा उसका अन्न पच कर उसका जीवन बनता है। यही अग्नि जीवन का चिन्ह है, मरते समय मनुष्य के जिस २ अंग से यह अग्नि शान्त होता जाता है, वही मुर्दा होता जाता है। अन्ततः छाती पर हाथ धर कर देखते हैं, यह सबसे पीछे ठण्डी होती है, इसके ठण्डा होने के साथ ही जीवन की समाप्ति है। यह अग्नि जो प्राणधारियों में जीवन का हेतु है, यही पृथिव्यादि लोकों के भी जीवन का हेतु है। अर्थात् यह हर एक स्थावर जंगम में रह कर उसको जीवित रखने वाली है। यह विश्व व्यापी वैश्वानर अग्नि जिस अन्तरात्मा के अधीन, और जिसकी शक्ति से अपना काम करती है, उस अन्तरात्मा को शबलरूप में वैश्वानर आत्मा कहा है—

अभिविमान * है, वह सब लोकों में सब प्राणधारियों में और सब आत्माओं में अन्न खाता है ॥ १ ॥

तस्य हवा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो

वया इदग्ने अग्नयस्ते अन्ये त्वे विश्वे अमृता मादयन्ते । वैश्वानर नाभिरसि क्षितीनां स्थूणेव जनाँ उपमिद्ययन्थ (ऋ० १।५९।१)

हे वैश्वानर अग्ने ! दूसरी अग्नियें तेरी शाखाएं हैं, सारे देवता तुझमें आनन्द मनाते हैं। तू सब मनुष्यों का नाभि (केन्द्र) है, वह खम्भे की तरह तू लोगों को साहारे हुए है ॥

इसी सम्बन्ध को लेकर आगे वैश्वानर के उपासक के लिये अपने अन्दर ही वेदि आदि की कल्पना (५।१८।२) और उसके भोजन में होम की कल्पना और उससे सारे विश्व की तृप्ति दिखलाई है(५। १९—२३) और चण्डाल को उच्छिष्ट देने में भी अग्निहोत्र की तुल्यता दिखलाई है और देखो ऋग् १।५९;१।९८ वृह० आर० उप० ५।९ शतपथ १०।६।१ वेदान्त १।२।२४—३२ ॥

* प्रादेशमात्र, और अभिविमान, यह दोनों शब्द यहां स्पष्टार्थ नहीं हैं। अक्षरार्थ—बालिश्त भर, और सामने होकर मापने वाला। शतपथ ब्राह्मण में मूर्धा से लेकर ठोडी तक अंगों में द्यौ आदि का स्वरूप दिखलाया है, देखो शतपथ १०।६।१ और वेदान्त १।२।३१॥

इन दिनोंशब्दों का अर्थ श्रीशंकराचार्ययहलिखते हैं—'द्यौ मूर्धा है' से लेकर पृथिवी पाओं है' यहां तक जो प्रदेश हैं उनसे यह अध्यात्म में मापा जाता है, इसलिये प्रादेशमात्र है, अथवा मुख आदि अवयवोंमें यह साक्षीरूप से मापा जाता है। अथवा द्युलोक से पृथिवी पर्यन्त (प्रदेश) के परिमाण वाला है। अथवा शास्त्र से जो बतलाए गए हैं, (प्रादिश्यन्ते) द्यौ आदि, उनके परिमाण वाला है। और प्रत्यगात्मा के तौर पर जाना जाता है, इसलिये वह अभिविमान है॥

बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनो ऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः ॥ २ ॥

इस वैश्वानर आत्मा का सुतेजा (अच्छे तेज वाला द्यौ) केवल सिर है, विश्वरूप (सारे रूपों वाला सूर्य) नेत्र है, पृथग्वर्त्मात्मा (भिन्न २ मार्गों वाला वायु) प्राण है, बहुल(व्यापक आकाश) धड़ है, रयि (जल) वस्ति है, पृथिवी पाओं है । छाती वेदि हैं (वेदि की नांई है) (छाती के लोम) कुशा हैं (वेदि में बिछी हुई कुशा की न्याईं हैं) हृदय गार्हपत्य अग्नि है, मन दक्षिणाग्नि है, मुख आहवनीय है ॥ २ ॥

उन्नीसवां खण्ड

तद् यद्भक्तं प्रथममागच्छेत, तद्धोमीयम् । स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात,तां जुहुयात् 'प्राणाय स्वाहेति' प्राणस्तृप्यति ॥ १ ॥

*सो अब जो अन्न पहले पहल (वैश्वानर के उपासक के) पास आए, वह होम की वस्तु है । अब वह जो पहली आहुति होमे (पहला ग्रास मुख में डाले,मुख जो आहवनीय अग्नि है) वह प्राणाय स्वाहा यह कहकर उसे होमे । तब प्राण तृप्त होजाता है ॥ १ ॥

---

*पूर्व वैश्वानर के उपासक के अंगों में अग्निहोत्र के अंगों की कल्पना दिखलाई है । अब उसका फल यह दिखलाते हैं, कि वैश्वानर का उपासक जो अन्न खाता है, यही सच्चा अग्निहोत्र हैं, इस से समष्टि विराट् की तृप्ति होकर उपासक के लिये धर्म और अर्थ दोनों की सिद्धि होती है ॥

प्राणे तृप्येति चक्षुस्तृप्यति चक्षुषि तृप्यत्यादित्यस्तृप्यत्यादित्ये तृप्यति द्यौस्तृप्यति दिवि तृप्यन्त्यां यत्किञ्च द्यौश्चादित्यश्चाधितिष्ठतस्तत् तृप्यातितस्यानुतृप्तिंतृप्यतिप्रजयापशुभिरन्नाद्येनतेजसाब्रह्मवर्चसेनेति २

प्राण के तृप्त होने पर नेत्र तृप्त होजाता है, नेत्र के तृप्त होने पर सूर्य तृप्त होता है, सूर्य के तृप्त होने पर द्यौ तृप्त होता है, द्यौ के तृप्त होने पर द्यौ और सूर्य के अधिकार में जो कुछ है, वह सब तृप्त होजाता है। उसकी तृप्ति के पीछे वह (खाने वाला वैश्वानर का उपासक, यजमान) स्वयं प्रजा से, पशुओं से, स्वास्थ्य से तेज से और ब्रह्मवर्चस से तृप्त होता है ॥२॥

बीसवां खण्ड

अथ यां द्वितीयां जुहुयात्, तां जुहुयाद् 'व्यानाय स्वाहेत्ति'। व्यानस्तृप्याति ॥ १ ॥

अब जो दूसरी (आहुति) होमे, तो वह उसे 'व्यानाय स्वाहा' कह कर होमे। तब व्यान तृप्त होता है ॥ १ ॥

व्याने तृप्यति श्रोत्रं तृप्यति श्रोत्रे तृप्यति चन्द्रमास्तृप्याति चन्द्रमसितृप्यतिदिशस्तृप्यन्ति दिक्षुतृप्यन्तीषु यत्किञ्च दिशश्चन्द्रमाश्चाधितिष्ठन्ति तत्तृप्यति, तस्यानुतृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

व्यान के तृप्त होने पर श्रोत्र तृप्त होता है श्रोत्र के तृप्त

होने पर चन्द्रमा तृप्त होता है चन्द्रमा के तृप्त होने पर दिशाएं तृप्त होती हैं दिशाओं के तृप्त होने पर जो कुछ दिशाओं और चन्द्रमा के अधिकार में है वह सब तृप्त होता है। उसकी तृप्ति के पीछे वह (उपासक) स्वयं प्रजा से पशुओं से स्वास्थ्य से तेज से और ब्रह्मवर्चस से तृप्त होता है ॥ २ ॥

इक्कीसवां खण्ड

अथ यां तृतीयां जुहुयात्, तां जुहुयादपानाय स्वाहेत्यपानस्तृप्यति ॥ १ ॥

अब जो तीसरी (आहुति) होमे, तो उसे 'अपानाय स्वाहा' कहकर होमे, तब अपान तृप्त होता है ॥१॥

अपाने तृप्यति वाक् तृप्यति वाचि तृप्यन्त्यामग्निस्तृप्यत्यग्नौ तृप्यति पृथिवीतृप्यति पृथिव्यांतृप्यन्त्यां यत्किञ्च पृथिवी चाग्निश्चाधिष्ठतस्तत् तृप्यति, तस्यानु तृप्तिं तृप्यति प्रजया पशुभि रन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२॥

अपान के तृप्त होने पर वाणी तृप्त होती है,वाणी के तृप्त होने पर अग्नि तृप्त होती है,अग्नि के तृप्त होने पर पृथिवी तृप्त होती है, पृथिवी के तृप्त होने पर जो कुछ पृथिवी और अग्नि के अधिकार में है वह सब तृप्त होता है,उसकी तृप्ति के पीछे वह स्वयं प्रजा से पशुओं से स्वास्थ्य से तेज से और ब्रह्मवर्चस से तृप्त होता है ॥२॥

बाईसवां खण्ड

अथ यां चतुर्थीं जुहुयात् तां जुहुयात् 'समानाय स्वाहेति समान स्तृप्यति ॥ १ ॥

अब जो चौथी (आहुति) होमे, तो उसे 'समानाय स्वाहा' कह कर होमे। तब समान तृप्त होता है ॥ १ ॥

समाने तृप्यति मनस्तृप्याति मनसि तृप्याति पर्जन्य स्तृप्यातिपर्जन्येतृप्याति विद्युत् तृप्यति विद्युतितृप्यन्त्यां यत्किञ्च विद्युच्च पर्जन्यश्चाधितिष्ठत स्तत् तृप्यति, तस्यानुतृप्तिं तृप्याति प्रजया पशुभि रन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥२॥

समान के तृप्त होने पर मन तृप्त होता है, मन के तृप्त होने पर मेघ तृप्त होता है, मेघ के तृप्त होने पर विद्युत (बिजली) तृप्त होती है, विद्युत के तृप्त होने पर जो कुछ विद्युत और मेघ के अधिकार में है, वह सब तृप्त होता है। उसकी तृप्ति के पीछे वह स्वयं प्रजा से पशुओं से तेज से और ब्रह्मवर्चस से तृप्त होता है ॥२॥

तेईसवां खण्ड

अथ यां पञ्चमीं जुहुयात्, तां जुहुयादुदानाय स्वाहे त्युदानस्तृप्याति ॥ १ ॥

अब जो पांचवी (आहुति) होमे, तो उसे 'उदानायस्वाहा' कहकर होमें। तब उदान तृप्त होता है ॥१॥

उदाने तृप्याति वायुस्तृप्यति वायौ तृप्यत्याकाशस्तृप्यत्याकाशेतृप्याति यत्किञ्चवायुश्चाकाशश्चाधितिष्ठतस्तत् तृप्याति तस्यानुतृप्तिं तृप्याति प्रजया पशुभिरन्नाद्येन तेजसा ब्रह्मवर्चसेनेति ॥ २ ॥

उदान के तृप्त होने होने पर वायु तृप्त होता है, वायु के तृप्त होने पर आकाश तृप्त होता है। आकाश के तृप्त होने पर जो कुछ वायु और आकाश के अधिकार में है, वह सब तृप्त होता है। उसकी तृप्ति के पीछे वह स्वयं प्रजासे पशुओं से स्वास्थ्य से तेजसे और ब्रह्मवर्चस से तृप्त होता है ॥२॥

चौबीसवां खण्ड

स य इदमविद्वानग्निहोत्रं जुहोति, यथाङ्गारानपोह्य भस्मनि जुहुयात् तादृक् तत्स्यात् ॥१॥

अगर कोई इस (विद्या) को जाने विना अग्निहोत्र करता है तो वह होम ऐसा है जैसे कोई अंगारों को हटाकर राख में होम करे॥१॥

अथ य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति तस्य सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्वात्मसु हुतं भवति ॥२॥

हां वह जो इसके सच्चे तात्पर्य को जानकर अग्निहोत्र करता है, तो इसका वह होम (अर्थात् अन्न खाना) * सारे लोकों में सारे प्राणधारियों में और सारे आत्माओं में होजाता है॥ २ ॥

तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवꣳहास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते, य एतदेवं विद्वानग्निहोत्रं जुहोति ॥ ३ ॥

और जैसे सरकण्डेकी ऊपर की रुई अग्नि में डाली हुई जल-जाती है, इस तरह उसके सारे पाप जल जाते हैं, जो अग्निहोत्र के इस सच्चे तात्पर्य को जानता हुआ होम करता है (वा अन्न खाता है) ॥३॥

---

* मिलाओ ५। १८।१

तस्माद् हैवंविद् यद्यपि चाण्डालायोच्छिष्टं प्रयच्छेदात्मनि हैवास्य तद्वैश्वानरे हुत ँ स्यादिति। तदेष श्लोकः ॥ ४ ॥

इस लिए यदि (अग्निहोत्र के इस) सच्चे तात्पर्य को जानने वाला अपना बचा हुआ अन्न (उच्छिष्ट) चाण्डाल को भी देदेवे तो वह उसके (चण्डाल के देह में स्थित) वैश्वानर आत्मा में ही होम होगा। इस पर यह श्लोक है ॥ ४ ॥

यथेह क्षुधिता बाला मातरं पर्युपासते। एवँ सर्वाणि भूतान्यग्निहोत्र मुपासते,इत्यग्निहोत्रमुपासत इति ।५।

जैसे भूखे बच्चे (भोजन की आशा से) माता के आस पास बैठ जाते हैं, इस प्रकार सारे प्राणधारी (लोग) अग्निहोत्र को उपासते हैं, हां, अग्निहोत्र को उपासते* हैं ॥५॥

छठा प्रपाठक (पहला खण्ड)

ओ३म् । श्वेतकेतुर्हारुणेय आस, त ँ ह पितोवाच 'श्वेतकेतो! वस ब्रह्मचर्यं,न वै सोम्यास्मत्कुलीनोऽननू च्य ब्रह्मबन्धुरिव भवतीति ॥ १ ॥

श्वेतकेतु-आरुणेय (अरुण का पोता) था, उसको उसके पिता (अरुण के पुत्र-उद्दालक) ने कहा 'श्वेतकेतो ! जाओ,

---

* इस विद्या के जानने वाले के भोजन को ध्यान करते हैं, कि कब वह आएगा। क्योंकि विद्वान् के भोजन से सारा जगत् तृप्त होता है (शंकराचार्य)

ब्रह्मचर्य वास करो; क्योंकि बेटा ! हमारे कुल में ऐसा पुरुष नहीं होता, कि जो वेद को न पढ़कर ब्रह्मबन्धु * सा बनजाए' ॥१॥

स ह द्वादशवर्ष उपेत्य चतुर्विंꣳ शतिवर्षः सर्वान् वेदानधीत्य महामना अनूचानमानी स्तब्धएयाय ।२।

वह बारह बरस की † आयु में (आचार्य के) पास गया और चौबीस बरस की आयु में सारे वेदों को पढ़कर वापिस आया, बड़े मन वाला, अपने आपको पूरा विद्वान् समझता हुआ और बड़ा अकड़ वाला (बन कर वापिस आया) ॥ २ ॥

तꣳ ह पितोवाच 'श्वेतकेतो ! यन्नु सौम्येदं महामना अनूचानमानीस्तब्धोऽस्युततमादेशमप्राक्ष्यो, येना श्रुतꣳ श्रुतं भवत्यमतं मतमाविज्ञातं विज्ञातमिति ।३।

उसे पिता ने कहा 'श्वेतकेतो ! बेटा ! तुम जो इतने बड़े मन वाले, अपने आपको पूरा विद्वान् समझते हो और अकड़ वाले हो, क्या तुमने वह आदेश‡(उपदेश) भी कभी पूछा है, कि जिससे न सुना हुआ सुना हुआ हो जाता है, न समझा हुआ समझा हुआ हो जाता है, और न जाना हुआ जाना हुआ होजाता है ॥३॥

---

* ब्रह्मबन्धु, वह जो ब्राह्मणों को अपने बन्धु बतलाता है, पर स्वयं ब्राह्मण के गुण कर्म से भूषित नहीं ॥

† जब कि ब्राह्मण का पुत्र सातवें बरस उपनीत होसका है, तो एक योग्य विद्वान् का पुत्र इतनी देर अनुपनीत रहा हो, इसकी अपेक्षा यह अधिक सम्भव है, कि वह इस से पहले अपने विद्वान् पिता से पढ़ता रहा हो ॥

‡ आदेश, वह उपदेश जो केवल शास्त्रगम्य वा गुरुगम्य ही हो॥

'कथंनु भगवः । स आदेशो भवतीति' । यथासो-म्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्याद्,वाचार-म्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ॥ ४ ॥

(उसने पूछा) 'वह आदेश हे भगवन् ! किस प्रकार का है' ॥

(पिता ने उत्तर दिया) 'जैसे हे सोम्य ! एक मट्टी के गोले (के जानने) से मट्टी की हर एक वस्तु विज्ञात (जानी गई) हो जाय, क्योंकि विकार केवल नाम मात्र अलग है, जो वाणी का सहारा है (अलग शब्द से बोला जाता है) पर वह मट्टी है यही सत्य है * ॥ ४ ॥

यथा सोम्यैकेन लोहमणिना सर्वं लोहमयं विज्ञात ँ स्याद्, वाचारम्भणं विकारो नामधेयं लोहमित्येव सत्यम् ॥ ५ ॥

और जैसे हे सोम्य ! एक सोने के डेले से सोने की हर एक वस्तु जानी जाती है, विकार केवल नाम अलग है, जो वाणी का सहारा है, पर वह सोना है, यही सत्य है ॥ ५ ॥

यथा सोम्यैकेन नखनिकृन्तनेन सर्वं कार्ष्णायसं विज्ञातँस्याद्वाचारम्भणं विकारोनामधेयं कृष्णायस मित्येव सत्यम् । एवँसोम्य स आदेशो भवतीति॥६॥

---

* विकार, बनी हुई वस्तु । जब कोई वस्तु नई बनती है, तो उस में नाम रूप का भेद होता है, मट्टी के बर्तन नाम में और रूप (आकार=शकल) में भिन्न २ होजाते हैं, पर वह मट्टी से कोई अलग वस्तु नहीं । मिलाओ ६ । ३ । ३ ॥

और जैसे हे सोम्य एक नख काटने वाले से लोहे की हर एक वस्तु जानी जाती है, विकार केवल नाम मात्र है, जो वाणी का सहारा है, पर वह लोहा ही है यही सत्य है। इस प्रकार हे सोम्य ! वह आदेश होता है ॥ ६ ॥

न वैनूनं भगवन्तस्तएतदवेदिषुर्यद्ध्येतदवेदिष्यन् कथं मे नावक्ष्यन्निति, भगवाँस्त्वेव मे तद्ब्रवीत्विति' तथा सोम्येति होवाच ॥ ७ ॥

(पुत्र ने कहा) 'निःसन्देह वह भगवान् (मेरे आचार्य) इसे नहीं जानते होंगे। क्योंकि यदि वह जानते होते, तो मुझे कैसे न बतलाते। इस लिए आप ही मुझे यह बतलाएं, । उसने कहा 'ऐसा ही हो हे सोम्य' ! ॥ ७ ॥

दूसरा खण्ड *

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् । तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं, तस्माद सतः सज्जायेत ॥ १ ॥

हे सोम्य पहले यह केवल सत् था एक ही बिना दूसरे के, इस विषय में कई ऐसा कहते हैं, कि पहले यह केवल असत (अभाव) था एक ही बिना दूसरे के, ऐसा मानने में असत से सत की उत्पत्ति माननी होगी ॥ १ ॥

कुतस्तु खलु सोम्यैवं स्यादिति होवाच । 'कथम

* मिलाओ तैत्ति० उप० २ । ६ ॥

सतःसज्जायेतेति । सतत्वेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ॥ २ ॥

पर उसने कहा हे सोम्य यह कैसे होसक्ता है ? असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे होसक्ती है ? किन्तु सत् ही हे सोम्य ! यह पहले था, एक ही बिना दूसरे के ॥ २ ॥

तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति । तत्तेजोऽसृजत । तत्तेज ऐक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति । तदपोऽसृजत । तस्माद् यत्र क्वच शोचति स्वेदते वा पुरुषस्तेजस एव तदध्यापो जायन्ते ॥ ३ ॥

उसने देखा * (अर्थात् ख्याल किया) मैं बहुत होजाऊं, मैं प्रजावाला होऊं । उसने तेज † को रचा । उस तेज‡ने देखा,

* यह क्रिया प्रकट करती है, कि वह सत् चेतन है, न कि अचेतन । यहां प्रकृति का अन्तर्यामी मान कर उसे शबलरूप में प्रकट किया है ऐसे ही आगे 'तेजः' और 'आपः' हैं ॥

† यहां व्याख्याकारों ने तेज से अग्नि और अन्न (४) से पृथ्वी ली है । और यह बतलाया है, कि तेज की उत्पत्ति आकाश और वायु से पीछे जाननी चाहिए, जैसा कि तैत्तिरी० (२ । १) में है । पर यहां जैसा कि तेज, जल, और अन्न का आगे वर्णन है, उससे, तेज से वह गर्मी जो उत्पत्ति का बीज है, जल से द्रवावस्था और अन्न से घनावस्था अभिप्रेत है । यह अग्नि इन तीनों से त्रिवृत्कृत है ६।४।१ न कि तेजोरूप है, तेजका उसमें लाल रंग प्रकट कियागया है ॥

‡ वही सत्, जो अब तेज के अन्दर शबलरूप में है । तेज से वह सब अभिप्रेत है,जो जलता है,पकाता है,चमकता है,और जो लाल है ॥

मैं बहुत होउं, प्रजावाला होउं, उसने जल को रचा, इस लिए जहां कहीं कोई पुरुष गर्म होता है, और उसे पसीना आता है, वहां तेज से ही जल उत्पन्न होता है ॥ ३ ॥

ता आप ऐक्षन्त, बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति । ता अन्नमसृजन्त, तस्माद् यत्रक्व वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवत्यद्भ्य एव तदध्यन्नाद्यं जायते ।४।

उस जल * ने देखा, मैं बहुत होउं, मैं प्रजा वाला होउं। उसने अन्न † (पृथ्वी) को रचा । इस लिए जहां कहीं बरसता है, वहीं बहुत अन्न होता है ॥ ४ ॥

तीसरा खण्ड

तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जमिति ॥ १ ॥

‡ इन सारे प्राणधारियों के तीन ही बीज § हैं—अण्डे से उत्पन्न होनेवाले (अण्डज पक्षी आदि,) जीव (अर्थात् जीवित

---

* जल से अभिप्राय है, जो द्रव है और शुक्लवर्ण है ॥

† अन्न से वह वस्तु अभिप्रेत है, जो घन (ठोस) भारी है, स्थिर आकार वाली है, और काले रंगकी है ॥

‡ अब तेज आदि की उत्पत्ति दिखला कर उसके पीछे जीवित सृष्टि का उत्पन्न होना और उसके द्वारा अलग २ नामरूप का व्यवहार होना दिखलाते हैं ॥

§ ऐत० उप० में चार बीज दिखलाए हैं, अण्डज, जो यहां अण्डज है, जारुज [अर्थात् जरायुज] जो यहां जीवज है, उद्भिज्ज, जो यहां उद्भिज्ज है, स्वेदज, जो पसीने (गर्मी) से उत्पन्न होते हैं, यह यहां अधिक है । (यहां यह इन्हीं के अन्तर्गत किया गया है) मिलाओ अथर्व १ । १२ । २ ॥

जन्तु) से उत्पन्न होने वाले (जरायुज=मनुष्य, पशुआदि,) और उद्भिद् से उत्पन्न होने वाले (उद्भिज्ज = वृक्ष आदि) ॥ १ ॥

सेयं देवतैक्षत, हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति ॥२

इस देवता ने (जिसने तेज, जल, और अन्न को उत्पन्न किया था) सोचा *, अच्छा अब मैं इन तीनों देवताओं (तेज, जल और अन्न) में इस जीते आत्मा (जीवात्मा) के साथ प्रवेश करके नाम और रूप को अलग २ करूं ॥ २ ॥

तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणीति । सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ॥ ३ ॥

और इनमें से हरएक को तीन २ गुणा बनाउं । तब उस देवता (सत्) ने इन तीनों देवताओं में इस जीते आत्मा (जीवात्मा) के साथ प्रवेश किया और नाम और रूप को अलग २ किया ॥३॥

तासां त्रिवृत त्रिवृतमेकैकामकरोद् । यथा नु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवतास्त्रिवृत् त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥ ४ ॥

---

* यद्यपि तेज, जल, और अन्न को उत्पन्न करदिया है, पर अभी भी बहुत होने का प्रयोजन पूरा नहीं हुआ, इस लिए उसने फिर सोचा (शंकराचार्य)

इनमें से हरएक को तीन २ गुणा * बनाया; और जिस-तरह पर हे सोम्य ! इन देवताओं में से हरएक तीन २ गुणा है, अब यह मुझ से जान ॥ ४ ॥

चौथा खण्ड

यदग्नेरोहित ँ रूपं तेजसस्तद्रूपं, यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं, तदन्नस्य । अपागादग्नेरग्नित्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं । त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥१॥

(जलती हुई) अग्नि का जो लाल रंग है, वह तेज का रंग है, जो श्वेत रंग है, वह जलों का है । और जो काला रंग है, वह पृथिवी का है । अब अग्नि का अग्निपन चलागया, † विकार नाममात्र (अलग) है जो वाणी का सहारा है । जो कुछ सत्य है, वह तीन रूपही हैं ॥१

यदादित्यस्य रोहित ँ रूपं तेजसस्तद्रूपं, यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्य।अपागादादित्यादादित्यत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम् ॥२॥

जो सूर्य का लाल रंग है, वह तेज का रंग है, जो श्वेत है, वह जलों का है, और जो काला है. वह पृथिवी का है, अब सूर्य्य का सूर्यपन चला गया, विकार नाममात्र (अलग) है, जो वाणी का सहारा है । जो कुछ सत्य है, वह तीन रूप ही हैं ॥२॥

यच्चन्द्रमसो रोहित ँ रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां,

---

* तेज, जल और पृथ्वी, इनमें से एक २ का अधिक भाग लेकर दूसरे उसके साथ मिला दिये । और यह दृश्यमान अग्नि, जल, तेज इसतरह पर मिश्रितरूप हैं ॥

† अग्नि का अग्निपन कोई अपना स्वतन्त्र नहीं, क्योंकि अग्नि तीन रूपों का विकार विशेष है, इसके सिवाय और कुछ नहीं ॥

यत्कृष्णं तदन्नस्य । अपागाच्चन्द्राच्चन्द्रत्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणिरूपाणीत्येव सत्यम् ॥३॥

जो चन्द्रका लाल रंग है, वह अग्नि का है, जो श्वेत है वह जलोंका है, जो काला है, वह पृथिवी का है, अब चन्द्र का चन्द्रपन चला गया, विकार नाममात्र [अलग] है, जो वाणी का सहारा है, जो कुछ सत्य है, वह तीन रूप ही हैं ॥३॥

यद्विद्युतो रोहितꣳरूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्य। अपागाद्विद्युतो विद्युत्त्वं वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणिरूपाणीत्येव सत्यम् ॥४॥

जो बिजली का लाल रंग है, वह तेज का रंग है, जो श्वेत है, वह जलों का है, जो काला है, वह पृथिवी का है, अब बिजली का बिजलीपन चला गया, विकार नाममात्र (अलग) है, जो वाणी का सहारा है। जो कुछ सत्य है, वह तीन रूप ही हैं ॥४॥

एतद्ध स्म वै तद्विद्वाꣳस आहुः पूर्वे महाशाला महाश्रोत्रियाः, न नोऽद्य कश्चनाश्रुतममतमविज्ञातमुदाहरिष्यतीति ह्येभ्यो विदाञ्चक्रुः ॥ ५ ॥

पुराने समय के बड़े गृहस्थ और बड़े वेदवेत्ता जिन्हों ने इस बात को जान लिया था, उन्हों ने कहा, 'अब हमें कोई ऐसी वस्तु नहीं बतलाएगा, जो हमारी न सुनी हुई, न समझी हुई, और न जानी हुई हो; क्योंकि इन [तीन रूपों के जानने] से उन्हों ने सब कुछ जान लिया था ॥५॥

यदु रोहितमिवाभूदिति तेजसस्तद्रूपमिति तद्वि-

दाञ्चक्रुः, यदु शुक्लमिवाभूदित्यपा ᳫ रूपमिति तद्विदाञ्चक्रुः । यदु कृष्णमिवाभूदित्यन्नस्य तद्रूपमिति विदाञ्चक्रुः ॥ ६ ॥

जो कुछ लाल सा था, वह उन्हों ने तेज का रूप जाना, जो श्वेत सा था, वह उन्हों ने जलों का रूप जाना, जो काला सा था, वह उन्हों ने पृथिवी का रूप जाना ॥६॥

यद्वविज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवताना ᳫ समास इति तद्विदाञ्चक्रुः । यथानु खलु सोम्येमास्तिस्रो देवता पुरुषं प्राप्य त्रिवृत् त्रिवृदेकैका भवति तन्मे विजानीहीति ॥ ७ ॥

और जो कुछ बेमालूम सा था, वह उन्हों ने जाना, कि इन तीनों देवताओं का मेल है ।

अब हे सोम्य ! मुझ से यह सीख, यह तीनों देवता जब पुरुष को प्राप्त होते हैं, किस तरह इन में से हरएक तीन २ गुना हो जाता है ॥७॥

पांचवां खण्ड

अन्नमशितं त्रेधा विधीयते, तस्य यः स्थविष्ठो धातुस्तत् पुरीषं भवति, यो मध्यम स्तन्मा ᳫ सं योऽणिष्ठस्तन्मनः॥ १ ॥

जब पृथ्वी [अन्न] खाया जाता है, तो वह तीन प्रकार का

बनजाता है उसका सबसे स्थूल भाग मल बनजाता है, जो मध्यम है वह मांस, और जो सबसे सूक्ष्म है, वह मन बन जाता है ॥१॥

आपः पीता स्त्रेधा विधीयन्ते; तासां यः स्थविष्ठो धातु स्तन्मूत्रं भवति, यो मध्यम स्तल्लोहितं, योऽणिष्ठः स प्राणः ॥ २ ॥

जब जल पिया जाता है, वह तीन प्रकारका बन जाता है, उसका जो सबसे स्थूल भाग है वह मूत्र बनजाता है,जो मध्यम है वह रुधिर, और जो सब से सूक्ष्म है, वह प्राण बन जाता है ॥२॥

तेजो ऽशितं त्रेधा विधीयते, तस्य यः स्थविष्ठो धातु स्तदस्थि भवति, यो मध्यमः,समज्जा, योऽणिष्ठः सा वाक् ॥३॥

जब तेज [अर्थात् जो तेल घी आदिमें है,वा जो अन्नमें धातें हैं] खाया जाता है, तो वह तीन प्रकार का बन जाता है उसका जो स्थूल भाग है, वह हड्डी बन जाता है जो मध्यम है वह मज्जा [मिज्ज], जो सब से सूक्ष्म है, वह वाणी बन जाता है * ॥३॥

अन्नमय ७ हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति । भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति हो उवाच ॥४॥

---

* हरएक वस्तु अन्नजल और तेज तीनोंकी बनी हुईहै,इसलिए जो कोई वस्तु जिस किसीं प्राणधारी से खाई जाती है, उस में इन तीनों का भाग पायाजाता है,चाहे उनका न्यूनाधिक भाग कुछही हो।

क्योंकि हे सोम्य ! मन अन्नमय [अन्न का बना हुआ] है, प्राण जलमय है, वाणी तेजो मयी है ॥

पुत्र ने कहा । भगवन् ! अभी मुझे फिर [अधिक स्पष्ट करके] बतलाएं , पिता ने कहा । तथास्तु हे सोम्य ॥

छटाखण्ड

दध्नः सोम्य मथ्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तत्सर्पिर्भवति ॥१॥

हे सोम्य ! जब दही मथा जाता है तो उसका सबसे सूक्ष्म भाग ऊपर उठ आता है, और वह मक्खन बनता है ॥१॥

एवमेव खलु सोम्यान्नस्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति तन्मनो भवाति ॥ २ ॥

ठीक इसी तरह हे सोम्य ! अन्न जब खाया जाता है तो उसका सबसे सूक्ष्म भाग ऊपर उठ आता है वह मन बनता है ॥२॥

अपा ँ सोम्य ! पीयमानानां योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति स प्राणो भवाति ॥ ३ ॥

और हे सोम्य ! जब जल पिया जाता है, तो उसका सब से सूक्ष्म भाग ऊपर उठ आता है, वह प्राण बनता है ॥३॥

तेजसः सोम्याश्यमानस्य योऽणिमा स ऊर्ध्वः समुदीषति सा वाग्भवति ॥४॥

और जब तेज खाया जाता है तो उस का सब से सूक्ष्मभाग ऊपर उठ आता है, वह बाणी बनती है ॥४॥

अन्नमय ँ हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्ते

जोमयी वागिति । भूय एव मा भगवान् विज्ञापय-त्विति तथा सोम्येति होवाच ॥ ५ ॥

क्योंकि हे सोम्य ! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है, वाणी तेजोमयी है ॥

पुत्रने कहा भगवन् ! अभी मुझे फिर [अधिक स्पष्ट करके] जितलाएं' ॥

पिता ने कहा तथाऽस्तु हे सोम्य ॥

सातवांखण्ड

षोड़शकलः सोम्य ! पुरुषः पञ्च दशाहानि माशीः, काममपः पिब, आपोमयः प्राणो न पिबतो विच्छेत्स्यत इति ॥ १ ॥

हे सोम्य ! पुरुष सोलह कलावाला* है । तुम पन्द्रह दिन कुछ नहीं खाओ, जल जितना इच्छा हो पीते रहो, प्राण जो जलमय है, वह तुम्हारा कट नहीं जाएगा जब तुम पानी पीते रहोगे ॥१॥

स ह पञ्चदशाहानि नाश । अथ हैनमुपससाद किं ब्रवीमि भो इति । ऋचः सोम्य यजूꣳषि सामा-नीति' सहोवाच । 'न वै मां प्रतिभान्ति भो इति'।२।

उसने पन्द्रह दिन तक नहीं खाया । तब वह पिता के पास आया (और कहा) भगवन् ! क्या सुनाउं ? पिता ने कहा

---

*खाए हुए अन्न का जो सूक्ष्मभाग मन में शक्ति डालता है, वह शक्ति जो अन्न से बढ़ती है, उसके सोलह विभाग करके सोलह कला बतलाई हैं। मनकी उस पूर्णशक्ति से यहपुरुष सोलह कलावाला कहाहै॥

सोम्य ऋचा, यजु, और साम मन्त्र (सुनाओ,) । उसने उत्तर दिया 'भगवन् । वह मुझे नहीं फुरते हैं' ॥ २ ॥

त ᳯ होवाच होवाच 'यथा सोम्य ! महतोऽभ्याहितस्यैको ऽङ्गारः खद्योतमात्रः परिशिष्टः स्यात् तेन ततोऽपि नबहु दहेदेवᳯ सोम्य ! ते षोड़शानां कलानामेका कलाऽति शिष्टा स्यात तयैतर्हि वेदान्नानुभवस्यशान ॥३॥

पिताने उसे उत्तर दिया 'जैसे हे सोम्य ! जलती हुई अग्नि का एक अंगारा जो जुगुनू जितना है बच रहे, तो उस (अंगारे) से पुरुष उससे बहुत (जितनी उसकी छोटी शक्ति है, उससे तनिक भी अधिक) नहीं जला सक्ता, इस तरह हे सोम्य ! तेरी सोलह कलाओं में से एक कला बाकी बच रही है, और इस लिये उस एक कला से तू हे सोम्य ! अब वेदों को नहीं स्मरण करता है । अच्छा जाओ और खाओ ॥ ३ ॥

अथ मे विज्ञास्यसीति' । सहाश । अथ हैनमुपससाद । त ᳯ ह यत्किञ्च पप्रच्छ सर्व ᳯ ह प्रतिपेदे त ᳯ होवाच ॥४॥

तब तू मुझ से इसे समझेगा, । श्वेतकेतु ने जाकर भोजन किया और फिर इस के पास आया । अब जो कुछ पिता ने उस से पूछा, वह सब उसने जान लिया । तब उसे पिता ने कहा ॥४॥

यथा सोम्य ! महतोऽभ्याहितस्यै कमङ्गारं खद्योत

मात्रं परिशिष्टं तं तृणै रुपसमाधाय प्राज्वलयेत्। तेन ततोऽपि बहु दहेत् ॥५॥

जैसे हेसोम्य (जलती हुई) अग्नि का एक अंगारा जो जुगनू जितना बच रहा है, उस को यदि घास से सुलगा कर फिर चमकादे, तब वह उससे भी बहुत (अधिक) जला सक्ता है ॥

एवं ँ सोम्य ! ते षोड़शानां कलानामेका कलाऽतिशिष्टाभूत् साऽन्नेनोपसमाहिता प्राज्वलीत्, तयैतर्हि वेदाननुभवस्यन्नमय ँ हि सोम्य मन आपोमयः प्राणस्तेजोमयी वागिति। तद्धास्य विजज्ञाविति, विजज्ञाविति ॥ ६ ॥

इस प्रकारहेसोम्य ! तेरी सोलह कलाओं मेंसे एक बाकी बच रही थी, वह अन्न से सुलगाई हुई फिर चमक उठी है, और उस से अब तुम वेदों को स्मरण करते हो। सो हे सोम्य ! मन अन्नमय है, प्राण जलमय है, और वाणी तेजोमयी है,। अब उसने पिता की बात को जान लिया, हां, उसने जान लिया * ॥ ६ ॥

आठवां खण्ड

उद्दालको हारुणिः श्वेतकेतुं पुत्रमुवाच 'स्वप्नान्तं मे सोम्य विजानीहीति। यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति नाम,

---

* यहां अन्तिम शब्द का दुहराना इस बात के प्रकट करने के लिये है कि त्रिवृत्करण (अर्थात् हरएक वस्तु तेज जल और अन्न के स्वभाव वाली है,) का प्रकरण समाप्त हुआ ॥

सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति, स्वमपीतो भवति, तस्मादेनꣳस्वपितीत्याचक्षते स्वꣳह्यपीतो भवति ।१।

उद्दालक आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को कहा 'बेटा ! मुझसे तुम स्वप्न * के तत्त्व को सीखो । जब यह पुरुष सोजाता है, तब हे सोम्य ! सत् (ब्रह्म) के साथ मिलजाता है, वह अपने आप में लीनहोता है । इसलिये उसे स्वपिति कहते हैं, क्योंकि वह अपने आप (स्व) में लीन (अपीत) होता है † ॥ १ ॥

स यथा शकुनिः सूत्रे प्रबद्धो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा बन्धनमेवोपश्रयते, एवमेव खलु सोम्यैतन्मनो दिशं दिशं पतित्वाऽन्यत्रायतनमलब्ध्वा प्रणमेवोपश्रयते, प्राणबन्धनꣳहि सोम्य मन इति ॥२॥

जैसे (शिकारीके) तागे से दृढबन्धा हुआ कोई पक्षी (बाज आदि) दिशा २ में उड़ कर (फड़ फड़ाकर) और कहीं आश्रय न पाकर उसी जगह का आश्रय लेता है, जहां वह बन्धा हुआ है,

---

* मन वाणी और प्राण का असली स्वरूप दिखला कर आत्मा का स्वरूप दिखलाने के लिए नया उपदेश आरम्भ करते हैं स्वप्न से यहां अभिप्राय सुषुप्ति है, सुषुप्ति थकान से होती है, इस में मन वाणी और दूसरे इन्द्रिय विश्राम करते हैं, और प्राण जागता है, जीवात्मा उतने काल के लिये परब्रह्म के आश्रय रहता है, उसे कोई विशेष ज्ञान नहीं रहता ॥

† स्वपिति, वह सोता है यह शब्द 'स्व (अपने आपमें) और 'अपीत (लीनहोता है) से निकला, क्योंकि आत्मा उस समय अपने स्वरूप में होता है, न कि बाहरकी दुनिया में ॥

ठीक इसी प्रकार हे सोम्य ! यह मन* दिशा २ में घूमकर और कहीं आश्रय न पाकर प्राण का ही सहारा लेता है, क्योंकि यह मन हे सोम्य प्राण से बन्धा हुआ है (प्राण के आश्रय है) ॥

अशनापिपासे मे सोम्य ! विजानीहीति । यत्रैतत्पुरुषोऽशिशिषति नाम, आप एव तदाशितं नयन्ते । तद् यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इति, एवं तदप आचक्षतेऽशनायेति । तत्रैतच्छुङ्गमुत्पतितं सोम्य ! विजानीहि नेदममूलं भविष्यतीति ॥३॥

तस्य क्व मूलं स्यादन्यत्राद्भ्य्योऽद्भिः सोम्य ! शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ । तेजसा सोम्य ! शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ । सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः ॥४॥

अब हे सोम्य ! तुम मुझ से भूख और प्यास के तत्त्व को सीखो । जब कोई पुरुष. कहा जाता है, कि भूखा है, तो (इसके यह अर्थ हैं कि) जल उस के खाये हुए को लेजा रहे हैं । सो जैसे यह गोनाय अश्वनाय और पुरुषनाय है, इसी प्रकार जल (जो अन्न को जीर्ण करता है और भूख का हेतु है) को कहते हैं अशनाया† । इस

---

* मन से मन में स्थित जीव, और प्राण से परब्रह्म से अभिप्राय है, जैसा कि और जगह भी उसे प्राण का प्राण और प्राण-शरीर इत्यादि कहा है (शंकराचार्य)

† गोनाय=गौओं का नेता, गवाला । अश्वनाय=घोड़ों का

प्रकार (अन्न के जीर्ण होने आदि से) यह जो अङ्कुर निकला है (शरीर उत्पन्न हुआ है) विश्वास रक्खो, कि विना मूल (कारण) के नहीं हुआ होगा (क्योंकि कार्य बिना सत कारण के नहीं होता)॥ उसका मूल सिवाय अन्न * के और कहां (क्या) होसक्ता है? इसीप्रकार हे सोम्य! अन्न भी एक अङ्कुर है, उसके भी मूल को ढूंढ और वह तेज है। इसी प्रकार हे सोम्य! तेज भी एक अंकुर है, उसके भी मूल को ढूंढ, और वह हे सोम्य। सत (ब्रह्म) है †। बस हे सोम्य!

नेता, साईस। पुरुषनाय=पुरुषों का नेता, सेनापति, राजा वा लीडर इसी प्रकार अशनाया अर्थात् अन्न का ले जानेवाला, जल। अन्न जो खाया जाता है उसको तेजाव जीर्ण करके रस रुधिर आदि रूप में बदल कर सारे शरीर में फैला देता है, इस तरह पर खाए हुए अन्न का जीर्ण होकर शरीर में फैलना भूख का हेतु है, जो अशनाया (भूख) शब्द से प्रकट किया गया है॥

* अन्न शरीर का मूल इस तरह से है। अन्न जब खाया जाता है, तो उसको तेजाब जीर्ण कर देते हैं और वह जठराग्नि से पक कर रस बनता है, रस से रुधिर, रुधिर से मांस, मांस से चर्बी, चर्बी से हड्डी, हड्डियों से मज्जा, मज्जा से वीर्य। दूसरी ओर-स्त्री से खाया हुआ अन्न रस आदि के क्रम से रज बनता है। रज और वीर्य जो अन्न का कार्य है, इन दोनों के मेलसे नया शरीर बनता है और प्रति दिन के आहार से बढ़ता है॥

† यहां निचला चित्र सब जगह ध्यान में रखना चाहिए, क्योंकि इसी क्रम से पूर्व उत्पत्ति दिखलाई है और यही उलटने से लयका क्रम है॥

सत् (परादेवता)
|
तेज=वाणी
|
जल=प्राण
|
अन्न=मन

इन सारी प्रजाओं का (असली) मूल सत् है अब भी (स्थिति काल में) यह प्रजाएं सत् के आश्रे हैं और अन्त को सत्में लीन होती हैं॥

आठवां खण्ड

अथ यत्रैतत्पुरुषः पिपासति नाम, तेज एव तत्पीतं नयते। तद्यथा गोनायोऽश्वनायः पुरुषनाय इति,एवं तत्तेज आचष्ट उदन्येति। तत्रैतदेव शुंगमुत्पतितꣳ सोम्य! विजानीहि, नेदममूलं भविष्यतीति। तस्य क्व मूलꣳस्यादन्यत्राद्भ्यःअद्भिः सोम्य! शुंगेन सन्मूल मन्विच्छ। सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाःसत्प्रतिष्ठाः। यथा तु खलु सोम्येमास्तिस्रोदेवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैका भवति तदुक्तं पुरस्तादेव भवत्यस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ् मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्। स य एषोऽणिमा ॥ ६ ॥

(अब प्यास का तत्व बतलाते हैं) और जब कोई पुरुष, कहा जाता है, कि वह प्यासा है तो (इसके यह अर्थ हैं) कि तेज उस को ले जा रहा है (प्राणादि रूप में बदल रहा है) जो कुछ उस ने पिया है। सो जैसे यह गोनाय, अश्वनाय, पुरुषनाय है। इसी प्रकार उस तेज को कहते हैं उदन्या * इस प्रकार (पानी के

* उदन्या=प्यास, अक्षरार्थ जलका लेजाने वाला अर्थात् जल को जीर्ण करता हुआ तेज प्यास का हेतु है॥

जीर्ण होने आदि से) हे सोम्य ! यह जो अंकुर (शरीर) उत्पन्न हुआ है विश्वास रक्खो यह बिना मूल के नहीं होगा ॥ ५ ॥

उसका मूल सिवाय जल के और कहां होगा, इसी प्रकार हे सोम्य ! जल भी अंकुर है उससे तू उस के मूल को ढूंढ, वह तेज है और तेज भी एक अंकुर है उस के भी मूल को ढूंढ और वह सत् है। बस सोम्य ! इन सारी प्रजाओंका मूल सत् है यह सत् के आश्रय हैं और सत् में लीन होती हैं ॥

हे सोम्य ! जिस तरह पर यह तीन देवता (अन्न जल और तेज) पुरुष को प्राप्त होकर इन में से हर एक तीन २ गुणा हो जाता है, वह पहले (६ । ४ । ७) कह दिया है। हे सोम्य ! जब कोई पुरुष यहां से चलता (मरता) है तो उसकी वाणी मन में लीन होती है, मन प्राणों में, प्राण तेज में तेज परा देवता (सत्) में * सो जो यह सूक्ष्मता (सत्, जो जगत का मूल) है ॥ ६ ॥

ऐतदात्म्य मिद७ंसर्वं तत्सत्य७ंस आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ! इति 'भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति' 'तथा सोम्येति' होवाच ॥ ७ ॥

यह सब कुच्छा इसी से आत्मा वाला है वह सत्य है वह आत्मा है वह तू हैं हे † श्वेतकेतो !

---

* जब पुरुष मरता है तो पहिले उसकी वाणी बन्द होती है, वह बोलता नहीं है, पर समझता है। फिर उसका मन लीन होता है वह कुछ नहीं समझता, पर उसकी छाती गरम होती है फिर तेज लीन होता है और वह ठंडा होजाता है ॥

† "तत्वमसि" यह वेदांत का बड़ा प्रसिद्ध वाक्य उन चार महा वाक्यों में से एक है जो अद्वैतवाद का स्तम्भ माने गए हैं।

(पुत्र ने कहा) हे भगवन् मुझे फिर बतलाएं * ॥
पिता ने उत्तर दिया 'तथास्तु हे सोम्य' ॥ ७ ॥

नवां खण्ड

यथा सोम्य! मधु मधुकृतो निस्तिष्ठन्ति नानात्ययानां वृक्षाणा ँ रसान् समावहारमेकता ँ रसं गमयन्ति ॥ १ ॥

ते यथा तत्र न विवेकं लभन्तेऽमुष्याहं वृक्षस्य रसोऽस्म्यमुष्याहं वृक्षस्य रसो ऽस्मीत्येवमेव खलु सोम्येमा! सर्वाः प्रजाः सति संपद्य न विदुः सति संपद्यामह इति ॥ २ ॥

जैसे हे सोम्य! मधुमक्खियें शहद बनाती हैं भिन्न२ जगह के वृक्षों के रसों को इकट्ठा करके और उनको एकरूप में एकरस बना देती हैं। वह जैसे वहां यह विवेक नहीं पासक्ते, कि मैं उस वृक्षका रस हूं, मैं उस वृक्षका रस हूं। इसी प्रकार हे सोम्य! जब [सुषुप्ति में और मरने के पीछे] सारे जीव सत् में लीन होजाते हैं, तो वह नहीं जानते कि हम सत् में लीन हुए हैं ॥२॥

यह वाक्य यहां नौ वार दुहराया गया है इस पर द्वैत वादियों और अद्वैत वादियों के बहुत कुछ विचार हैं ॥

अद्वैतवाद का ज़ोर सीधे अर्थ पर है और द्वैतवाद का बल और वाक्यों के सहारे पर इसका दूसरा तात्पर्य मानने में है। देखो सत्यार्थ प्रकाश सप्तम समुल्लास ॥

* जब सारी प्रजाएं प्रति दिन सुषुप्ति में सत् में लीन होती हैं, तो वह फिर क्यों नहीं जानतीं हम सत् में लीन हुई हैं यह मुझे फिर प्रकट करें ॥

त इह व्याघ्रो वा सि ᳪ हो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतङ्गो वा द ᳪ शो वा मशको वा यद् यद् भवन्ति तदाभवन्ति ॥ ३ ॥

वह यहां जो जो कुच्छ थे चीते वा शेर भेड़िये वा सूअर वा कीट पतंग वा डांस और मच्छर, वही फिर २ होते हैं ॥३॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्य मिद ᳪ सर्वं तत्सत्य ᳪ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ! इति । भूयएव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ।४।

सो जो यह सूक्ष्मता [सब का मूल] है । यह सब कुच्छ इसी से आत्मावाला है । वह सत्य है । वह आत्मा है ! वही तू है हे श्वेतकेतो !

[पुत्र ने कहा] हे भगवन् मुझे फिर बतलाएं *

पिता ने उत्तर दिया 'तथास्तु हे सोम्य' ! ॥ ४ ॥

दसवां खण्ड

इमाः सोम्य ! नद्यः पुरस्तात् प्राच्यःस्यन्दन्ते, पश्चात् प्रतीच्यः । ताःसमुद्रात् समुद्रमेवापियन्ति समुद्र एव भवन्ति ता यथा तत्र न विदु रियमहमस्मी यमहमस्मीति ॥ १ ॥

---

* जब कोई पुरुष अपने घर में सोता है और सवेरे उठकर किसी दूसरे गांव में जाता है । वह जानता है, कि मैं अपने घर से आया हूं । तब क्या कारण है कि यह प्रजाएं सत् से आकार नहीं जानतीं, कि हम सत् से आई हैं यह मुझे फिर बताएं ॥

हे सोम्य ! यह नदियें पूर्वी [गंगा आदि] पूर्व की तरफ बहती हैं और पश्चिमी पश्चिम की तरफ बहती हैं। वह समुद्र से समुद्र में लीन होती हैं [अर्थात मेघों से पानी समुद्र में से अन्तरिक्ष में खींचा जाता है और फिर बरस कर बहता हुआ समुद्र में जामिलता है] समुद्र ही हो जाती हैं । वह (नदियें) जैसे वहां नहीं जानतीं कि मैं यह नदी हूं या वह नदी हूं ॥१॥

एवमेव खलु सोम्येमाः सर्वाःप्रजाः सत आगम्य न विदुः सत आगच्छामह इति । तइह व्याघ्रो वा सिꣳहो वा वृको वा वराहो वा कीटो वा पतंगो वा दꣳशो वा मशको वा यद्‌ यद्‌ भवन्ति तदा भवन्ति ॥

इसी प्रकार हे सोम्य ! यह सारी प्रजाएं सत् से आकर नहीं जानतीं, कि हम सत से आई हैं। वह यहां जो कुच्छ थे चीते वा शेर भेड़िये वा सूअर वा कीट पतंग वा डांस और मच्छर। वही फिर फिर होते हैं ॥ २ ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ! इति । भूयएव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

जो यह सूक्ष्मता सब का मूल है, यह सब कुच्छ इसी से आत्मा वाला है। वह सत्य है। वह आत्मा है। वह तू हैं हे श्वेतकेतो ! (पुत्र ने कहा) हे भगवन् मुझे फिर बतलाएं * ॥

---

* तरंग झाग और बुद्बुदे जो पानी से उठते हैं फिर पानी में लीन हुए नष्ट हो जाते हैं, पर यह प्रजाएं सत् से आकर, सुषुप्ति, मरने और प्रलय में सत् में लीन होती हुई नष्ट क्यों नहीं होजातीं, यह मुझे फिर बतलाएं ॥

पिता ने उत्तर दिया 'तथाऽस्तु हे सोम्य'! ॥ ३ ॥

ग्यारहवां खण्ड

अस्य सोम्य! महतो वृक्षस्य यो मूलेऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्, यो मध्येऽभ्याहन्याज्जीवन् स्रवेद्, यो ऽग्रे ऽभ्याहन्याज्जीवन स्रवेत्। स एष जीवेनात्मनाऽनुप्रभूतः पेपीयमानो मोदमानस्तिष्ठति ॥ १ ॥

हे सोम्य! यदि कोई इस [सामने स्थित] बड़े वृक्ष की जड़ पर चोटदे, तो वह जीता हुआ ही बहे गा [अर्थात् उसमें से रस बहेगा और वह सूख नहीं जाएगा जीता रहेगा] और यदि कोई इसके मध्य पर चोटदे, तो वह जीता हुआ बहेगा। और यदि कोई चोटी पर चोटदे तो जीता हुआ बहेगा। यह [वृक्ष] जीते हुए आत्मा से व्याप्त हुआ [और पुष्टि कारक रसों को] पूरी तरह पीता हुआ हरा भरा होकर खड़ा रहता है ॥ १ ॥

अस्य यदेकां शाखां जीवो जहात्यथ सा शुष्यति, द्वितीयां जहाति अथ सा शुष्यति। तृतीयां जहात्यथ सा शुष्यति। सर्वं जहाति सर्वः शुष्यत्येवमेव खलु सोम्य! विद्धीति होवाच ॥ २ ॥

पर जब इसकी एक शाखा को जीव छोड़ देता है तब वह सूख जाती है, दूसरी को छोड देता है, वह सूख जाती है, तीसरी को छोड़ देता है, वह सूख जाती है, सारे वृक्ष को छोड़ देता है, सारा वृक्ष सूखजाता है। इसी प्रकार हे सोम्य! तुम जानो ॥२

जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत

इति । स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिद ँ सर्वं तत्सत्य ँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ! इति । भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ३।

कि जीव से पृथक् हुआ यह [शरीर] मरता है, जीव नहीं मरता है, सो जो यह सूक्ष्मता सबका मूल है, यह सब कुछ इसी से आत्मा वाला है, वह सत्य है । वह आत्मा है । वह तू है, हे श्वेतकेतो ! [पुत्र ने कहा] हे भगवन् ! मुझे फिर बतलाएं * ॥

पिता ने उत्तर दिया 'तथास्तु हे सोम्य' ! ॥ ३ ॥

बारहवां खण्ड

"न्यग्रोधफलमत आहरेति" "इदं भगवइति" "भिन्धीति" "भिन्नं भगववइति" "किमत्रपश्यसीति" "अण्व्य इवेमा धाना भगवइति" आसामङ्गैकां भिन्धीति" "भिन्ना भगवइति" "किमत्र पश्यसि' "किश्चन न भगव इति" त ँ होवाच ॥ १ ॥

इस (बड़ के वृक्ष) से बड़का फल लाओ ॥

यह है हे भगवन् ॥

इसे तोड़ो ॥

तोड़ दिया है हे भगवन् ॥

इस में क्या देखते हो ? ॥

बहे सूक्ष्म से दाने हे भगवन् ॥

---

* यह पृथिव्यादि नाम रूप जगत् अत्यन्त सूक्ष्म उस सद्रूप से कैसे उत्पन्न होता है जो स्वयं नाम रूप से रहित है ॥

प्यारे इन (दानों) में से एक को तोड़ो ॥

तोड़ दिया है हे भगवन् ॥

इस में क्या देखते हो ॥

कुछ नहीं हे भगवन् ॥ १ ॥

"यं सोम्यैतमणिमानं न निभालयस एतस्यवै सोम्यैषो ऽणिम्न एवं महान्यग्रोधस्तिष्ठति ॥ २ ॥

उस को उसने कहा हे सोम्य ! तू अब जिस सूक्ष्मता को नहीं देखता है इसी सूक्ष्मता से हे सोम्य ! यह इतना बड़ा बड़ का वृक्ष खड़ा होजाता है ॥ २ ॥

श्रद्धत्स्व सोम्येति स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिद ँ सर्वं तत्सत्य ँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ! इति । भूयएव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥ ३ ॥

विश्वास करो हे सोम्य ! कि जो यह सूक्ष्मता सब का मूल है यह सब कुछ इसी से आत्मा वाला है, वह सत्य है, वह आत्मा है वह तू है हे श्वेतकेतो !

(पुत्र ने कहा) हे भगवन् । मुझे फिर बतलाएं* ॥

पिताने उत्तर दिया तथास्तु हे सोम्य ! ॥ ३ ॥

तेरहवां खण्ड

लवण मेतदुदकेऽवधायाथ मा प्रातरुपसीदथा इति । स ह तथा चकार । त ँ होवाच यद्दोषा लवण मुदके

---

* यदि वह सत् जगत् का मूल है तो फिर अनुभव क्यों नहीं होता॥

ऽवाधाअङ्ग तदाहरेति तद्धावमृश्य न विवेद यथा विलीनमेवाङ्ग ॥१॥

इस लवणको पानी में डाल कर फिर सवेरे मेरे पास आओ। उस ने वैसा ही किया। पिता ने उसे कहा। बेटा जो लवण तुमने रातको पानी में डाला था उसे लेआओ। पुत्र ने उसे ढूंडा पर नहीं पाया क्यों कि वह इस में घुल गया था ॥ १ ॥

"अस्यान्तादाचामेति"। "कथमिति" "लवण मिति" "मध्यादाचामेति" "कथमिति" "लवण मिति" "अन्तादाचामेति" "कथमिति" "लवण मिति" अभिप्रास्यैनदथ मोपसीदथा इति। तद्ध तथा चकार। तच्छश्वत् संवर्त्तते। त ँ होवाच अत्र वाव किल तत्सोम्य! न निभालयसि। अत्रैव किलेति ॥२॥

पिता ने कहा इस के ऊपर से आचमन करो। कैसा है?

सलूना [खारी] है ॥

मध्य से आचमन करो कैसा है?

सलूना है ॥

तल से लेकर आचमन करो, कैसा है?

सलूना है।

अच्छा अब इसको छोड़कर मेरे पास आओ। उसने वैसा ही किया [और कहा] वह [लवण] सारे विद्यमान है ॥

उसको पिता ने कहा इसी प्रकार यहां [शरीर में] ही है वह सब है साम्य! तुम नहीं देखते हो निःसंदेह वह यहां ही है ॥ २ ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिद ँ सर्वं तत्सत्य ँ

स आत्मा तत्त्वमासि श्वेतकेतो ! इति । भूय एव मा भगवान् विज्ञपयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

विश्वास करो हे सोम्य कि जो यह सूक्ष्मता सब का मूल है यह सब कुछ इसी से आत्मा वाला है। वह सत्य है। वह आत्मा है वह तू है हे श्वेतकेतो ! [पुत्रने कहा] हे भगवन् ! मुझे फिर बतलाएं* पिताने उत्तर दिया 'तथास्तु हे सोम्य'। ॥ ३ ॥

चौदहवां खण्ड

यथा सोम्य ! पुरुषं गन्धारेभ्योऽभिनद्धाक्षमानीय तं ततोऽतिजने विसृजेत् । स यथा तत्र प्राङ्वोदङ् वाधराङ् वा प्रत्यङ् वा प्रध्मायीताभिनद्धाक्ष आनीतोऽभिनद्धाक्षो विसृष्टः ॥ १ ॥

जैसे हे सोम्य ! कोई पुरुष किसी पुरुष को कन्धार से आंखें बांध कर लेआए और उसको निर्जन जंगल में छोड़दे। जैसे वह वहां पूर्व पश्चिम और उत्तर दक्षिण की तरफ घूमता हुआ पुकार करे, कि मुझे आंखें बांधकर लाया गया है और बांधी हुई आंखों से छोड़ दिया गया है† ॥ १ ॥

---

* यदि ऐसे है तो लवण की तरह जगत् का मूल भी वह सत् किसी उपाय से उपलब्ध होना चाहिये यद्यपि वह इन्द्रियों से उपलब्ध नहीं होता। सो उसकी उपलब्धि का क्या उपाय है ॥

† ठीक ऐसे ही मनुष्य बंद आंखों के साथ लोक में आया है और बंधी हुई आंखों से ही छोड़ दिया गया है। यह कंधारी से भी बढकर बंद आंखों से लाया गया है, क्योंकि इसे यह भी पता नहीं कि मैं कहां से आया हूं। पर जैसे कंधारी को उपदेष्टा मिल जाने

तस्य यथाऽभिनहनं प्रमुच्य प्रब्रूयाद् "एतां दिशं गन्धारा एतां दिशं व्रजेति" स ग्रामाद् ग्रामं पृच्छन् पण्डितो मेधावी गन्धारानेवोप संपद्येत, एवमेवेहाचार्यवान् पुरुषो वेद । तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये अथ संपत्स्य इति ॥ २ ॥

स य एषोऽणिमैतदात्म्य मिद ँ सर्वं तत्सत्य ँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ! इति भूयएव मा भगवान् विज्ञापयत्विति । तथा सोम्येति होवाच ॥३॥

इस पर जैसे कोई पुरुष उसकी पट्टी खोलकर बतलाए, कि इस दिशा की तरफ कंधार है तुम इस दिशा को चले जाओ। वह यदि विद्वान् और समझवाला है, तो एक गांव से दूसरे गांव का रस्ता पूछता हुआ निःस्सन्देह कंधार पहुंच जाएगा। ठीक इसी तरह यहां भी वह पुरुष जिसको आचार्य मिल गया है, वह उस [सत्] को जान लेता है। उसके लिये उतनी देर ही देर है, जब तक वह [देह से] नहीं छूटेगा, तब वह सत् को प्राप्त होगा। सो जो यह सूक्ष्मता सब का मूल है, यह सब कुछ इसी से आत्मा वाला है। वह सत्य है। वह आत्मा है। वह तू है हे श्वेतकेतो ! [पुत्र ने कहा] हे भगवन् मुझे फिर बतलाएं * पिताने उत्तर दिया तथास्तु हे सोम्य ? ॥ ३ ॥

से अपने देश को पहुंच जाता है। वैसे ही यह भी उस देश के जानने वाले आचार्य के मिल जाने से असल देश को पालेता है॥

* आचार्य वाला पुरुष जिस क्रम से सत् को प्राप्त होता है वह क्रम मुझे दृष्टान्त द्वारा बतलाएं॥

पन्द्रहवां खण्ड

पुरुषꣳसोम्योपतापिनं ज्ञातयः पर्य्युपासते 'जानासि मां जानासि मामिति'तस्य यावन्न वाङ् मनसि संपद्यते, मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजःपरस्यां [illegible]

हे सोम्य ! जब कोई पुरुष बीमार होता है, तो उसके संबन्धी बांधव उस के आस पास बैठ जाते हैं [यह कहते हुए] "क्या तुम मुझे जानते हो, क्या तुम मुझे जानते हो" जब तक उस की वाणी मन में लीन नहीं होती, मन प्राण में, प्राण तेज में, और तेज परा देवता [सत्] में [लीन नहीं होता] तब तक वह जानता है ॥१॥

अथ यदाऽस्य वाङ् मनसि संपद्यते, मनः प्राणे, प्राणस्तेजसि, तेजः परस्यां देवतायामथ न जानाति ।२।

पर जब उसकी वाणी मनमें लीन हो जाती है, मन प्राण में और प्राण परादेवता में [लीन हो जाता है], तब वह उन को नहीं जानता है * ॥ २ ॥

स य एषो ऽणिमैतदात्म्यमिदꣳ सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ! इति' । 'भूय एव मा भगवान् विज्ञापयत्विति'। तथा 'सोम्येति होवाच'३

* मरने का क्रम जो अज्ञानी के लिये है वही ज्ञानी के लिये है। अज्ञानी सत् को प्राप्त हो कर नहीं जानते, कि हम उस को प्राप्त हुए हैं, और वापिस आकर नहीं जानते कि हम सत् से वापिस आए हैं। पर ज्ञानी उसको पाकर अज्ञानी नहीं होता।

सो जो यह सूक्ष्मता (सबका मूल है) यह सब कुच्छ इसी से आत्मा वाला है। वह सत्य है। वह तू है, हे श्वेतकेतो !' [पुत्र ने कहा] हे भगवन् मुझे फिर बतलाएं *। पिता ने उत्तर दिया 'तथास्तु हे सोम्य !' ॥ ३ ॥

सोलहवां खण्ड

पुरुष ँ सोम्योत हस्तगृहीत मानयन्ति "अपहार्षीत् स्तेयमकार्षीत् परशुमस्मै तपतेति" । स यदि तस्य कर्ता भवति, तत एवानृतमात्मानं कुरुते। सोऽनृताभिसन्धोऽनृतेनात्मान मन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति । स दह्यतेऽथ हन्यते ॥ १ ॥

हे सोम्य जैसे किसी पुरुष को हाथ से पकड़कर लाते हैं कि "इसने कोई चीज़ उठाली है इसने चोरी की है" (यदि वह इनकार करता है, तो वे कहते हैं) "इसके लिये कुल्हाड़ा (लोहा) तपाओ"† अब यदि वह उसका (चोरीका) करने वाला होता है, तब वह निःसंदेह अपने आपको झूठा बना रहा है,वह झूठे अभिप्राय वाला झूठ से अपने आप को ढांप कर तपे हुए लोहे को पकड़ता है, तो दग्ध होता है और (राजपुरुषों से) मारा जाता है ॥ १ ॥

---

* वह जो सत् को नहीं जानता है और वह जो जानता है, मर कर जब दोनों ही सत् को प्राप्त होते हैं, तो जानने वाला उसको पालेता है, और न जानने वाला नए जन्म के लिये फिर वापिस आता है, इस में जो कारण है वह मुझे फिर दृष्टान्त द्वारा बतलाएं ॥

† जहां किसी लौकिक उपाय से सच्चे झूठे का पता न लग सके वहां सच्चे झूठे की परीक्षा के लिये यह दिव्य उपाय स्मृतियों में बतलाया गया है ॥

अथ यदि तस्याकर्ता भवति, तत एव सत्यमात्मानं कुरुते। स सत्याभिसन्धः सत्येनात्मान मन्तर्धाय परशुं तप्तं प्रतिगृह्णाति न दह्यतेऽथ मुच्यते ॥ २ ॥

और यदि वह उसका (चोरीका) करने वाला नहीं होता है, तब वह अपने आप को सच्चा बनारहा है, वह सच्चे अभिप्राय वाला सच्चाई से अपने आप को ढांप कर तपे हुए लोहे को पकड़ता है, वह दग्ध नहीं होता, और वह छूट जाता है ॥ २ ॥

स यथा तत्र नादाह्येत तदात्म्य मिद ँ सर्वं तत्सत्य ँ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो ! इति'। तद्धास्य विजिज्ञाविति विजज्ञाविति ॥ ३ ॥

जैसे वह [सच्चा] पुरुष वहां दग्ध नहीं होता * इस प्रकार यह सब इस से आत्मा वाला है। वह सत्य है। वह आत्मा है। वह तू है हे श्वेतकेतो ! । तब उसने उसकी बातको जान लिया हां, उसने उसको जानलिया ॥ ३ ॥

---

* तपे हुए लोहे को सच्चा और झूठा दोनों पकड़ते हैं। एक के हाथ को सच्चाई लपेटे हुए हैं और वह अग्नि के दाह से बचजाता है दूसरा आग के और हाथ के मध्य में झूठका परदा डालता है, इस लिये उसके असर से नहीं बचता। इसी प्रकार मरने के पीछे यद्यपि दोनों ही सत् को प्राप्त होते हैं, वह भी जो उसको जानता है और वह भी जो नहीं जानता है, तथापि फल दोनों के लिये भिन्न२होजाते हैं। एक ब्रह्मानन्द को पहुंचता है और दूसरा नए जन्म के लिये वापिस आता है ॥

सातवां प्रपाठक *-पहला खण्ड

अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः। त ँ होवाच 'यद्वेत्थ तेन मोपसीद, ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति' ॥ १ ॥

नारद सनत्कुमार के पास आया और कहा 'हे भगवन् मुझे शिक्षा दो'। सनत्कुमार ने उसे कहा 'जो कुछ तुम जानते हो, वह मुझे बतलाओ, तब मैं उसके आगे तुम्हें बतलाऊंगा' ॥१॥

स होवाच 'ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेद ँ सामवेद माथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदं पित्र्य ँ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्य मेकायनं वेदविद्या ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्या ँ सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि ॥ २ ॥

नारद ने कहा 'हे भगवन् मैं ऋग्वेद पढ़ा हूं, तथा यजुर्वेद सामवेद और चौथा आथर्वण पांचवां इतिहास पुराण, वेदों का वेद, पित्र्य, राशि, दैव, निधि, वाकोवाक्य, एकायन, देवविद्या,

---

* छटे प्रपाठक में जगत के मूल परा देवता का उपदेश दिया है, उससे निचले तत्त्वोंकी महिमा नहीं दिखलाई। अब इस सातवें प्रपाठक में स्थूलसे लेकर सूक्ष्म, सूक्ष्मतर विषय को जितलाते हुए अन्त में उसी परा देवता का निर्देश किया है अर्थात् नाम आदि जो एक दूसरे से उत्तम हैं उन सब से बढ़कर भूमा नामी तत्त्व है उसकी प्राप्ति के लिये नाम आदियों की क्रम से महिमा बतलाई है। मानों यह एक सीढ़ी २ भूमा तक पहुंचाने का उपाय है ॥

ब्रह्मविद्या, भूतविद्या,क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्प और देवजनकी-विद्या, यह सब हे भगवन् मैं पढ़ा हूं* ॥ २ ॥

सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित् । श्रुत ँ ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति । सोऽहंभगवः शोचामि, तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति । त ँ होवाच यद्वैकिञ्चैतदध्यगीष्ठा नामैवैतत् ॥ ३ ॥

सो हे भगवन् ! मैं केवल मन्त्रों को जानता हूं आत्मा को नहीं जानता† । मैं ने आप जैसे पुरुषों से सुना है कि जो आत्मा

---

* यहां हमें बहुतसी विद्याओं का पता लगता है जो उपनिषदों के समय आर्य्यावर्त्त में आम तौर पर पढ़ी पढ़ाई जाती थीं । परन्तु इन विद्याओं से क्या कुछ अभिप्रेत है इसका निर्णय प्राचीन प्रमाणों पर निर्भर रखता है जिसके लिये हम अन्वेषण कर रहे हैं । शंकरायचार्य ने इस विषय में यह लिखा है ऋग्वेद । यजुर्वेद । सामवेद । अथर्ववेद । इतिहास पुराण (भारत) पांचवां वेद । वेदों का वेद=व्याकरण । पित्र्य=श्राद्धकल्प । राशि=गणित शास्त्र । दैव=उत्पात ज्ञानशास्त्र । निधि=महा कालादिनिधि शास्त्र । वाकोवाक्य=तर्क शास्त्र । एकायन=नीतिशास्त्र । देवविद्या=निरुक्त । ब्रह्मविद्या=शिक्षाकल्प और छन्द । भूतविद्या=भूततन्त्र । क्षत्रविद्या=धनुर्वेद । नक्षत्र विद्या=ज्योतिष । सर्पविद्या=गारुड़ । देवजनविद्या=गन्ध की योजना, नृत्य,गीत बजाना और शिल्प आदि का विज्ञान ॥
मिलाओ १ । १ । ४; १ । २ । १;१ । ७ । १ ॥

† 'यस्तन्नवेद किमृचा करिष्यति' जो उसे नहीं जानता, वह ऋचा से क्या करेगा (ऋ० १ । १६४ । ३९) ॥

को जान लेता है वह शोक से परे हो जाता है। सो मैं हे भगवन्! शोक में हूं आप मुझे शोक से पार करें॥

सनत्कुमार ने उत्तर दिया। 'जो कुछ तुमने यह पढ़ा है यह केवल नाम है' ॥ ३ ॥

नाम वा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहास पुराणः पञ्चमो वेदाना वेदः पित्र्यो राशिर्दैवो निधिर्वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्या ब्रह्म विद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्या। नामैवैतन्नामोपास्स्वेति ॥४॥

नामही ऋग्वेद है, यजुर्वेद, सामवेद, चौथा आथर्वण पांचवां इतिहासपुराण, वेदों का वेद, पित्र्य, राशि, दैव, निधि, वाको-वाक्य, एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्प और देवजन की विद्या, यह सब नाम ही हैं। नाम को ही तुम उपासो ॥ ४ ॥

स यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति, यो नाम ब्रह्मेत्युपास्ते।

'अस्ति भगवो नाम्नो भूय इति'? 'नाम्नो वाव भूयोऽस्तीति'। 'तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति' ॥ ५ ॥

वह जो नाम को ब्रह्म के तौर पर उपासता है। जहां तक नाम की पहुंच है, वहां तक इसकी इच्छानुसार होता है, (कोई रोक नहीं होती है=मालिक होता है) जो नाम को ब्रह्म के तौर पर उपासता हैं॥

(नारद-) 'क्या है भगवन् नाम से बढ़ कर कोई वस्तु है' ॥
(सनत्कुमार-) 'हां नाम से बढ़कर है' ॥
(नारद-) 'भगवन् ! मुझे वह बताएं' ॥ ५ ॥

दूसरा खण्ड

वाग्वाव नाम्नो भूयसी । वाग्वा ऋग्वेदं विज्ञापयति यजुर्वेद ँ सामवेद माथर्वणं चतुर्थमितिहास पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्य ँ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्या ँ सर्पदेवजनविद्यां दिवञ्च पृथिवीञ्च वायुं चाकाशं चापश्च तेजश्च देवा ँ श्च मनुष्या ँ श्च पशू ँ श्च वया ँ सिच तृणवनस्पतीञ्छ्वापदान्या कीटपतंगपिपीलकं धर्मञ्चाधर्मञ्च सत्यञ्चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञञ्चा हृदयज्ञञ्च । यद्वै वाङ् नाभाविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु नहृदयज्ञो नाहृदयज्ञः। वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति, वाच मुपास्स्वेति ॥ १ ॥

वाणी नाम से बढ़कर है । यह वाणी है, जो इन सब को पूरा२जितलाती है,ऋग्वेद,यजुर्वेद,सामवेद, चौथा आथर्वण पांचवां इतिहास पुराण, वेदों का वेद, पित्र्य, राशि, दैव, निधि, वाकोवाक्य, एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्प और देवजन की विद्या, द्यौ और पृथिवी; वायु

और आकाश; जल और तेज; देवता और मनुष्य; पशु और पक्षी; तृण और वनस्पति; सब हिंस्रजन्तु कीट, पतंग और चींटी तक; धर्म और अधर्म; सत्य और झूठ; भला और बुरा; प्रिय* और अप्रिय। यदि वाणी न होती, तो न धर्म जाना जाता, न अधर्म; न सच न झूठ; न भला न बुरा न प्रिय न अप्रिय। वाणी ही यह सब कुछ हमें समझाती है। वाणी को उपासो॥ १॥

स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते, यावद्वाचोगतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति, यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते। 'अस्ति भगवो वाचो भूय इति'। 'वाचो वाव भूयो ऽस्तीति' 'तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति'॥ २॥

वह जो वाणी को ब्रह्म के तौर पर उपासता है, उसके लिये जहां तक वाणी की पहुंच है, वहां तक कोई रोक नहीं रहती-जो वाणी को ब्रह्म के तौर पर उपासता है॥

'क्या है भगवन्! वाणी से बढ़कर कोई वस्तु है'?

'हां, वाणी से बढ़कर है'॥

'भगवन्! वह मुझे बतलाएं'॥ २॥

तीसरा खण्ड

मनो वाव वाचो भूयः। यथा वै द्वे वा आमलके द्वे वा कोले द्वौ वा ऽक्षौ मुष्टि रनुभवत्येवं वाचं च नाम च मनो ऽनुभवति। सयदा मनसा मनस्यति मन्त्रा नधीयीयेत्यथाधीते, कर्माणि कुर्वीयेत्यथ कुरुते, पुत्रा ँ श्च पशू ँ श्चेच्छेयेत्यथेच्छते, इमञ्चलोक ममु-

* हृदयज्ञ = अक्षरार्थ, हृदय का प्यारा॥

च्छेयेत्यथेच्छते । मनोह्यात्मा मनोहि लोको मनोहि ब्रह्म मन उपास्स्वेति ॥ १ ॥

मन वाणी से बढ़कर है, क्योंकि जिस प्रकार एक बंदमुट्ठी दो आंवलों वा दो बेरों वा दो बहेड़ों को अनुभव करती है(=अपने अन्दर रखती) है, इस प्रकार मन नाम और वाणी इन दोनों को अनुभव करता है*। जब कोई पुरुष मन से ख्याल करता है, कि मैं मन्त्रों को पढ़ूं, तब वह पढ़ता है. (जब ख्याल करता है) मैं कर्म करूं, तब वह कर्म करता है। (जब ख्याल करता है) मैं पुत्र और पशुओं को चाहूं. तब वह उनको चाहता है; (जब ख्याल करता है) इस लोक और उसलोक को चाहूं, तब वह उनको चाहता है †। मन निःसन्देह आत्मा है, ‡ मन लोक है, मन ब्रह्म है §, मन को उपासो ॥ १ ॥

स यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते, यावन्मनसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति, यो मनो ब्रह्मेत्युपास्ते । 'अस्ति भगवो मनसो भूयइति'? 'मनसो वाव भूयोऽस्तीति' । 'तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति' ॥ २ ॥

---

*मन में जब ख्याल आता है, तब वह वाणी को वक्तव्य विषय में प्रेरता है, इस प्रकार वाणी मन के अन्तर्गत है। और नाम वाणी के अन्तर्गत है ही ॥

† पुत्र पशु और लोक परलोक की प्राप्ति के उपायों का अनुष्ठान करके उनको प्राप्त होता है ॥

‡ क्योंकि आत्मा मन के साधन से काम करता है, और भोग भोगता है ॥

§ मन ही लोक की प्राप्ति का साधन है और ब्रह्म की प्राप्ति का साधन है ॥

वह जो मन को ब्रह्म के तौर पर उपासता है, जहां तक मनकी पहुंच है, वहां तक इसे कोई रोक नहीं रहती, जो मन को ब्रह्म के तौर पर उपासता है ॥

'क्या हे भगवन् ! मन से वढ़कर कोई वस्तु है' ?

'हां मन से वढ़कर है' ॥

'भगवन् ! वह मुझे वतलाएं' ॥ २ ॥

चौथा खण्ड

संकल्पो वाव मनसो भूयान् । यदा वै संकल्पयते ऽथमनस्यत्यथ वाचमीरयति, तामु नाम्नीरयति । नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति, मन्त्रेषु कर्माणीति ॥१॥

संकल्प* मन से वढ़कर है, क्योंकि जब पुरुष संकल्प करता है, तब वह ख्याल करता है, तब वाणी को प्रेरता है, और वह उसको (वाणी को) नाम (शब्द) में प्रेरता है । नाम में मन्त्र एक होते हैं, और मन्त्रों में कर्म† ॥ १ ॥

---

* संकल्प=इरादा, मनुष्य का जैसे संकल्प होता है, वैसे उस के ख्याल बनते हैं इस लिये संकल्प ख्याल से वढ़कर है ॥

† मन्त्र जो कि शब्दरूप हैं, वह नाम में एक होजाते हैं, अर्थात् नाम के अन्तर्गत हैं । क्योंकि विशेष सामान्य के अन्तर्गत होता है । मन्त्रों में कर्म एक होते हैं । मन्त्रों से प्रकाशित किये हुए ही कर्म किये जाते हैं, कोई कर्तव्य ऐसा नहीं, जो मन्त्रों में न वतलाया हो । जो कर्म मन्त्र से प्रकाश पाकर (प्रकट होकर) आत्मलाभ करचुका है, ब्राह्मण उसके विषय में यह विधान करता है, कि यह कर्म इस फल के लिये करना चाहिये इत्यादि । और जो ब्राह्मणों में कर्मों की उत्पत्ति देखी जाती है (अर्थात् नया कर्म वतलाया हुआ प्रतीत होताहै) वह भी मन्त्रोंमें जो कर्म सत्ता पाचुके हैं, (जो मन्त्रोंमें संक्षेपसे आचुके

तानि ह वैतानि संकल्पैकायनानि संकल्पात्मकानि संकल्पे प्रतिष्ठितानि। समक्लृपतां द्यावापृथिवी, समकल्पेतां वायुश्चाकाशञ्च, समकल्पतामापश्च तेजश्च, तेषाᳬ संक्लृप्त्यै वर्षᳬ संकल्पते, वर्षस्य संक्लृप्त्यै अन्नᳬ संकल्पते, ऽन्नस्य संक्लृप्त्यै प्राणाः संकल्पन्ते, प्राणानाᳬ संक्लृप्त्यै मन्त्राः संकल्पन्ते, मन्त्राणाᳬ संक्लृप्त्यै कर्माणि संकल्पन्ते कर्मणाᳬ संक्लृप्त्यै लोकः संकल्पते, लोकस्य संक्लृप्त्यै सर्वᳬ संकल्पते, स एष संकल्पः, संकल्प मुपास्स्वेति ॥ २ ॥

सो इन सब (मन से लेकर कर्मपर्यन्त) का संकल्प एक आश्रय (केन्द्र) है, (संकल्प की ओर खिचे जारहे हैं) यह संकल्प स्वरूप (संकल्प के बने हुए) हैं और संकल्प में रहते हैं। द्यौ और पृथिवी (मानों एक) संकल्पवाले हैं, वायु और आकाश (मानों एक) संकल्प वाले हैं, जल और तेज (मनों एक) संकल्पवाले हैं*। उनके (द्यौ, पृथिवी

हैं) ऐसे कर्मों को स्पष्ट किया गया है। ऐसा कोई कर्म नहीं, जिस की उत्पत्ति केवल ब्राह्मण में हो और मन्त्रों ने उसका प्रकाश न किया हो। लोक में भी यह प्रसिद्धि है, कि कर्म त्रयी से विधान किया गया है, और त्रयी शब्द ऋग्, यजु, साम इन तीन प्रकार के मन्त्रों का नाम है। मुण्डक उपनिषद् में भी लिखा है, कि 'मन्त्रों में ऋषियों ने जिन कर्मों को देखा' इस लिये यह ठीक है, कि मन्त्रों में कर्म एक होते हैं। (शंकराचार्य) ॥

* यहां 'समक्लृप्ताम, समकल्पेताम, समकल्पताम' इन भिन्न प्रकार के शब्दों के प्रयोग में क्या अभिप्राय का भेद है, यह बात स्पष्ट नहीं हुई, न किसी पूर्व व्याख्याकार ने ही की है। द्यौ और

आदि के) संकल्प से वर्षा संकल्पवाली होती है; वर्षा के संकल्प से अन्न संकल्पवाला होता है, अन्न के संकल्प से प्राण संकल्पवाले होते हैं, प्राणों के संकल्प से मन्त्र संकल्पवाले होते हैं, मन्त्रों के संकल्प से कर्म संकल्पवाले होते हैं, कर्मों के संकल्प से लोक संकल्प वाला होता है, लोक के संकल्प से हर एक वस्तु संकल्पवाली होती है* यह है (इतने सामर्थ्य वाला) संकल्प, सो तुम संकल्प को उपासो ॥ २ ॥

वह जो संकल्प को ब्रह्म के तौर पर उपासता है, वह स्वयं अकम्प्य (निश्चल) प्रतिष्ठावाला और दुःख से रहित हुआ उन लोकों को प्राप्त होता है, जो संकल्प वाले हैं, ध्रुव हैं, प्रतिष्ठा वाले हैं और दुःख से रहित हैं । जहां तक संकल्प की पहुंच है, वहां तक इसे कोई रोक नहीं रहती, जो संकल्प को ब्रह्म के तौरपर उपासता है ॥

पृथिवी संकल्प वाले हैं, इत्यादि का यह अभिप्राय है, कि यह एक संकल्प (ईश्वर संकल्प) के अधीन काम करते हैं, और इसी लिये यह सारे इस तरह काम करते हैं, जिससे एक दूसरे के काम में सहायता मिलती है, मानों यह सारे एक अभिप्राय को रखकर काम में लगे हुए हैं ॥

* अभिप्राय यह है, कि द्यौ और पृथिवी आदि ने जिस अभिप्राय से काम आरम्भ किया है, उस अभिप्राय को पूरा करने के लिये वर्षा बनती है, आगे उस अभिप्राय को पूरा करने के लिये अन्न होता है, अन्न से प्राण (जीवन की उत्पत्ति और उसका धारण) जीवन का रस्ता दिखलाने के लिये मन्त्र, मन्त्र कर्म द्वारा सफल होते हैं, कर्म हमारे भविष्यत् को सुधारता है, भविष्यत् के सुधरने से दुनिया की हर एक वस्तु हमारे लिये सुखदायी बनजाती है । मानों एक संकल्प इन सब के अन्दर बहरहा है, जिससे यह सारा जगत् हमारी सेवा में लगरहा है, और वह ईश्वर का पवित्र और सत्य संकल्प है ॥

'क्या है भगवन् ! संकल्प से बढ़कर कोई वस्तु है' ॥
' हां संकल्प से बढ़कर है ' ॥
'भगवन् ! वह मुझे बतलावें' ॥ ३ ॥

पांचवां खण्ड

चित्तं वाव संकल्पाद् भूयः । यदा वै चेतयतेऽथ संकल्पयतेऽथ मनस्यत्यथ वाचमीरयति, तामु नाम्नीरयति, नाम्नि मन्त्रा एकं भवन्ति, मन्त्रेषु कर्माणि ॥१॥

चित्त * संकल्प से बढ़कर है । क्योंकि जब कोई पुरुष सोचता है, तब वह (उस काम को करने वा त्यागने, अथवा उस वस्तु को लेने वा छोड़ने का) संकल्प करता है, और तब वाणी को प्रेरता है, और वह उसको (वाणी को) नाम में प्रेरता है, नाम में मन्त्र एक होते हैं, और मन्त्रों में कर्म ॥ १. ॥

तानि हवा एतानि चित्तैकायनानि चित्तात्मानि चित्ते प्रतिष्ठितानि । तस्माद् यद्यपि बहुविदचित्तो भवति नायमस्तीत्येवैनमाहुः । यदयं वेद यद्वाऽयं विद्वान्नित्थमचित्तः स्यादिति । अथ यद्यल्पविच्चित्तवान् भवति, तस्मा एवोत शुश्रूषन्ते । चित्त ँ ह्येवैषामेकायनं चित्तमात्मा चित्तं प्रतिष्ठा चित्तमुपास्स्वेति २

---

* चित्त = बोध, सोच, समझ, ग़ौर, फ़िक्र । अर्थात् अब क्या करना चाहिये, आगे इसका क्या फल होगा, और पीछे ऐसी अवस्था में ऐसे कर्मों का क्या परिणाम निकला है, इस विषय में बुद्धि पूरी २ लड़ सके ॥

सो इन सब (संकल्प से लेकर कर्मपर्यन्त) का चित्त एक गति (केन्द्र) है, यह चित्तस्वरूप हैं, और चित्त में रहते हैं। इस लिये यदि कोई पुरुष सोच से शून्य (अचित्त) हो, तो चाहे वह बहुत कुछ भी जानता हो; तौभी लोग उसके विषय में कहते हैं, कि यह कुछ नहीं है (न होने के बराबर है) जो यह जानता है। यदि यह विद्वान् होता, तो ऐसा बेसोच (बेसमझ=अचित्त) न होता। पर यदि कोई पुरुष सोचवाला होता है, तो चाहे वह थोड़ा भी जानता हो, लोग उसकी बात को खुशी से सुनना चाहते हैं। क्योंकि चित्त इन सब का आश्रय (केन्द्र) है, यह चित्तस्वरूप हैं, चित्त में रहते हैं। सो तुम चित्त को उपासो ॥२॥

स यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते, चित्तान् वै स लोकान् ध्रुवान्ध्रुवः प्रतिष्ठितान् प्रतिष्ठितोऽव्यथमानानव्यथमानोऽभिसिद्ध्यति। यावच्चित्तस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति, यश्चित्तं ब्रह्मेत्युपास्ते। 'अस्ति भगवश्चित्ताद् भूय इति' 'चित्ताद वाव भूयोऽस्तीति' 'तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति' ॥ ३ ॥

वह जो चित्त को ब्रह्म के तौर पर उपासता है, वह स्वयं दृढ़, ध्रुव, प्रतिष्ठा वाला और दुःख से रहित हुआ उन लोकों को प्राप्त होता है, जो सोच से पूर्ण, अटल, प्रतिष्ठा वाले और दुःख से रहित हैं। जहां तक चित्त की पहुंच है, वहां तक इसके लिये कोई रोक नहीं होती, जो चित्त को ब्रह्म के तौर पर उपासता है ॥

'क्या हे भगवन् ! चित्त से बढ़कर कोई वस्तु है'।

'हां चित्त से बढ़कर है'।

'हे भगवन् मुझे वह बतलाएं'।

छटा खण्ड

ध्यानं वाव चित्ताद् भूयः । ध्यायतीव पृथिवी ध्यायतीवान्तरिक्षं ध्यायतीव द्यौ र्ध्यायन्तीवापो ध्यायन्तीव पर्वता ध्यायन्तीव देवमनुष्याः । तस्माद् य इह मनुष्याणां महत्तां प्राप्नुवन्ति ध्यानापादा ७ शा इवैव ते भवन्ति । अथ येऽल्पाःकलहिनः पिशुना उपवादिनस्ते । अथ ये प्रभवो ध्यानापादा ७ शा इवैव ते भवन्ति, ध्यान मुपास्स्वेति ॥ १ ॥

ध्यान*चित्त से बढ़कर है । यह पृथिवी मानों ध्यान में लगी हुई है और इसी प्रकार अन्तरिक्ष, द्यौ, जल, और पर्वत, ध्यान में लगे हुए हैं, देवता और मनुष्य † ध्यान में लगे हुए हैं । इस लिये वह लोग जो यहां मनुष्यों में से (धन, विद्या,वा गुणोंद्वारा) महत्त्व (बड़ाई) को प्राप्त होते हैं, तो वह निःसंदेह ध्यान के फल का कुछ हिस्सा लिये हुए प्रतीत होते हैं (क्योंकि वह गम्भीर और शान्त प्रतीत होते हैं) । जो छोटे दर्जे के मनुष्य हैं, वह लड़ाई

* ध्यान = एकाग्रता, चित्त को एक जगह पर टिका देना। जब कोई पुरुष किसी गम्भीर विषय पर ध्यान लगाता है, तो वह शान्त और निश्चल होता है । पृथिवी और अन्तरिक्ष आदि इसी तरह से शान्त और अपनी मर्यादा में निश्चल हैं, मानों वह ध्यान में लगे हुए हैं ॥

† अथवा देव मनुष्य,मनुष्यों में जो शान्ति आदि दैवी संपदा वाले हैं (शंकराचार्य)

झगड़े वाले, चुगलियां करने वाले और निन्दा करने वाले होते हैं। पर जो प्रभुता वाले (ऊंचे दर्जे के) मनुष्य हैं, वह ध्यान के फल का कुछ हिस्सा लिये हुए प्रतीत होते हैं। सो तुम ध्यान को उपासो ॥ १ ॥

स यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते, यावद् ध्यानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति, यो ध्यानं ब्रह्मेत्युपास्ते।'अस्ति भगवो ध्यानाद् भूय इति'।'ध्यानाद् वाव भूयो ऽस्तीति' 'तन्मे भवगन् ब्रवीत्विति' ॥२॥

वह जो ध्यान को ब्रह्म के तौर पर उपासता है, जहां तक ध्यान की पहुंच है, वहां तक उसे कोई रोक नहीं होती, जो ध्यान को ब्रह्म के तौर पर उपासता है ॥

'क्या हे भगवन्! ध्यान से बढ़कर कोई वस्तु है' ॥

'हां, ध्यान से बढ़कर है' ॥

'भगवन् मुझे वह बतलाएं' ॥

सातवां खण्ड

विज्ञानं वाव ध्यानाद् भूयः। विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेद ँ सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्य ँ राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्य मेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्या ँ सर्पदेवजनाविद्यां दिवं च पृथिवीं च वायुं चाकाशं चापश्चतेजश्च देवा ँश्च मनुष्या ँश्च पशवश्चवया ँसि च तृणवन-

स्पतीञ्छ्वापदान्याकीटपतंगपिपीलिकं धर्मश्चाधर्मश्च सत्यञ्चानृतं च साधु चासाधु च हृदयज्ञं चाहृदयज्ञं चान्नं च रसं चेमं च लोकमसुं च विज्ञानेनैव विजानाति, विज्ञानमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

विज्ञान ध्यान से बढ़कर है *। विज्ञानद्वारा मनुष्य ऋग्वेद को जानता है, यजुर्वेद, सामवेद, चौथे आथर्वण, पांचवें, इतिहास-पुराण, वेदों के वेद, पित्र्य, राशि, दैव, निधि, वाकोवाक्य, एकायन, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्प और देवजन की विद्या, द्यौ और पृथिवी, वायु और आकाश, जल और तेज, देवता और मनुष्य, पशु और पक्षी; तृण और वनस्पति; सारे हिंस्र जन्तु,कीड़े पतंगे और चींटी तक; धर्म और अधर्म; सत्य और झूठ, भलाई और बुराई; प्रिय और अप्रिय; अन्न और रस; यह लोक और वह लोक, इन सब को विज्ञान द्वारा ही पुरुष जानता है। सो तुम विज्ञान को उपासो ॥१॥

स यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते, विज्ञानवतो वै स लोकाञ्ज्ञानवतो ऽभिसिध्यति, यावद्विज्ञानस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति, यो विज्ञानं ब्रह्मेत्युपास्ते। 'अस्ति भगवो विज्ञानाद् भूय इति'। 'विज्ञानाद् वाव भूयोऽस्तीति'। 'तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति' ॥ २ ॥

* विज्ञान शास्त्र के विषय का ज्ञान, विज्ञान कारण है और ध्यान उसका कार्य है, क्योंकि पहले वस्तु जानी जाती है, तब उस पर ध्यान जमाया जाता है, इसलिये ज्ञान ध्यान से बढ़कर है॥

वह जो विज्ञान को ब्रह्म के तौर पर उपासता है, वह विज्ञान वाले और ज्ञानवाले * [लोगों से युक्त] लोकों को प्राप्त होता है; जहां तक विज्ञान की पहुंच है, वहां तक इसे कोई रोक नहीं होती, जो विज्ञान को ब्रह्म के तौर पर उपासता है ॥

'क्या हे भगवन् ! विज्ञान से बढ़कर कोई वस्तु' है ॥

'हां विज्ञान से बढ़कर है' ॥

'भगवन् ! मुझे वह बतलाएं' ॥ २ ॥

आठवां खण्ड

बलं वाव विज्ञानाद् भूयः । अपि ह शतं विज्ञानवता मेको बलवानाकम्पयते । स यदा बली भवत्यथोत्थाता भवत्युत्तिष्ठन् परिचरिता भवति, परिचरन्नुपसत्ता भवत्युपसीदन् द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति, बोद्धा भवति, कर्ता भवति, विज्ञाता भवति । बलेन वै पृथिवी तिष्ठति, बलेनान्तरिक्षं बलेन द्यौर्बलेन पर्वता बलेन देवमनुष्या बलेन पशवश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतङ्ग पिपीलिकं बलेन लोकस्तिष्ठति, बलमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

बल विज्ञान से बढ़कर है † । बलवाला एक पुरुष विज्ञान

* विज्ञान, शास्त्र के विषय का ज्ञान, और ज्ञान, दूसरे लौकिक विषयों में निपुणता (शंकराचार्य)

† पुष्टि कारक अन्न के उपयोग से जो शरीर में बल उत्पन्न होता है, वही शरीर को स्वस्थ रखकर मनुष्य की प्रतिभा [नए २ फुरने] को बढ़ाता है और उद्योगी तथा स्वस्थेन्द्रियं बना कर उस

वाले सौ पुरुषों को कम्पा देता है। जब कोई पुरुष बलवाला होता है, तो वह उद्योगी [उद्यमी] बन जाता है। और जब वह उद्योगी होता है, तो वह [आचार्यों] का सेवन करने वाला बनता है, और जब वह उनकी सेवा करता है, तो वह उनका निकटवर्ती [अन्तरङ्ग, विद्यादान का पात्र] बनता है, और जब वह निकटवर्ती बनता है, तो वह देखने वाला, सुनने वाला, मनन करने वाला, जानने वाला, करने वाला, और समझने वाला बन जाता है [उस के सारे इन्द्रियों के बोध खुल जाते हैं] बल से पृथिवी [अपनी मर्यादा में] खड़ी है, बल से अन्तरिक्ष, बल से द्यौ, बल से पर्वत, बल से देवता और मनुष्य, बल से पशु और पक्षी, तृण और वनस्पति, सब हिंस्र जन्तु कीट पतंग और चीटीतक; बल से लोक [दुनिया] खड़ा है। सो तुम बल को उपासो ॥ १ ॥

स यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते, यावद् बलस्य गतं तत्रास्य यथाकामचरो भवति, यो बलं ब्रह्मेत्युपास्ते। 'अस्ति भगवो बलाद् भूयः इति'। 'बलाद् वाव भूयो ऽस्तीति' 'तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति' ॥ २ ॥

वह जो बलको ब्रह्म के तौर पर उपासता है, जहां तक बल की पहुंच है, वहां तक इसे कोई रोक नहीं होती, जो बल को ब्रह्म के तौर उपासता है ॥

के लिये नए विज्ञान के द्वार खोल देता है, इस लिये बल विज्ञान से बढ़कर है। और कभी २ तो सीधे तौर पर भी बल विज्ञान से बढ़ जाता है, जबकि विज्ञान वालों का वास्ता किसी बल वाले से सीधा पड़ जाता है ॥

'क्या हे भगवन् बल से बढ़कर कोई वस्तु है' ॥

'हां बल से बढ़कर है' ॥

'भगवन् मुझे वह बताएं' ॥

नवां खण्ड

अन्नं वाव बलाद् भूयः । तस्माद् यद्यपि दश रात्री र्नाश्नीयाद्, यद्यु ह जीवेदथवा ऽद्रष्टाऽश्रोता ऽमन्ता ऽबोद्धाऽकर्ता ऽविज्ञाता भवत्यथान्नस्यायै द्रष्टा भवति श्रोता भवति मन्ता भवति बोद्धा भवति, कर्ता भवति विज्ञाता भवत्यन्नमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

अन्न बल से बढ़कर है [क्योंकि बल का कारण है] । इस लिये यदि कोई पुरुष दसदिन कुछ न खाए । तो वह [बलकी हानि होने से मरजाता है, और] यदि जीता भी रहे, तो वह देखने, सुनने, मानने, जानने, काम करने, और समझने के अयोग्य होता है । पर जब उसे अन्न प्राप्त होता है, तो वह देखने, सुनने, मानने, जानने, काम करने, और समझने वाला बन जाता है । सो तुम अन्न को उपासो ॥ १ ॥

स योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्ते ऽन्नवतो वै स लोकान् पानवतो ऽभिसिद्ध्यति, यावदन्नस्य गतं तत्रास्य यथाकामचरो भवति योऽन्नं ब्रह्मेत्युपास्ते । 'अस्ति भगवो ऽन्नाद् भूय इति' । अन्नाद् वाव भूयोऽस्तीति' । 'तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति' ॥ २ ॥

वह जो अन्न को ब्रह्म के तौर पर उपासता है, वह प्रभूत अन्न और प्रभूत पान वाले लोकों को प्राप्त होता है, जहां तक अन्न की पहुंच है, वहां तक उसे कोई रोक नहीं होती—जो अन्न को ब्रह्म के तौर पर उपासता है ॥

'क्या हे भगवन् ! अन्न से बढ़कर कोई वस्तु है'

'हां अन्न से बढ़कर है'

'भगवन् ! मुझे वह बताएं' ॥ २ ॥

दसवां खण्ड

आपो वा अन्नाद् भूयस्यः। तस्माद् यदा सुवृष्टिर्न भवति,व्याधीयन्ते प्राणा अन्नं कनीयो भविष्यतीति। अथ यदा सुवृष्टिर्भवत्यानन्दिनः प्राणा भवन्त्यन्नं बहु भविष्यतीति। आप एवेमा मूर्ता येयं पृथिवी यदन्तरिक्षं यद् द्यौर्यत्पर्वता यद्देवमनुष्या यत्पशवश्च वयाꣳसि च तृणवनस्पतयः श्वापदान्याकीटपतंगपिपीलकमापएवेमा मूर्ता अप उपास्स्वेति ॥ १ ॥

जल अन्न से बढ़कर है। इसलिए जब अच्छी वृष्टि नहीं होती, तो प्राण दुःखी होते हैं, कि अन्न [इस वर्ष] थोड़ा होगा। पर यदि अच्छी वृष्टि होती है, तो प्राण आनन्द मनाते हैं, कि [अब] अन्न बहुत होगा। जल ही यह भिन्न २ मूर्तियें*धारण किये हैं, जो यह पृथिवी है, जो अन्तरिक्ष है, जो द्यौ है, जो पर्वत हैं, जो देव

* यह सब कुछ जो मूर्त (ठोस) है, यह द्रवावस्था से इस अवस्था में आया है ॥

और मनुष्य हैं, जो पशु और पक्षी हैं, तृण और वनस्पति हैं, और जो हिंस्र जन्तु हैं, कीट पतंग और चींटी तक, जल ही यह भिन्न २ मूर्तियें धारण किये हैं । सो तुम जल को उपासो ॥ १ ॥

स योऽपो ब्रह्मेत्युपास्ते, आप्नोति सर्वान् कामाꣳ स्तृप्तिमान् भवति यावदपां गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति, योऽपो ब्रह्मेत्युपास्ते । 'अस्ति भगवोऽद्भ्यो भूय इति' । 'अद्भ्यो वाव भूयोऽस्तीति' । 'तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति' ॥ २ ॥

वह जो जल को ब्रह्म के तौर पर उपासता है, वह सारी कामनाओं को प्राप्त होता है, तृप्तिवाला होता है, जहां तक जलों की पहुंच है, वहां तक इसे कोई रोक नहीं होती—जो जलों को ब्रह्म के तौर पर उपासता है ॥

'क्या है भगवन् ! जल से बढ़कर कोई वस्तु है'

'हां जल से बढ़कर है'

'भगवन् ! मुझे वह बताएं' ॥ २ ॥

ग्यारहवां खण्ड

तेजो वा अद्भ्योभूयः । तद्वा एतद्वायुमुपगृह्याकाशमभितपति तदाहुर्निशोचति नितपति वर्षिष्यति वा इति । तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते । तदेतदूर्ध्वाभिश्चतिरश्चीभिश्च विद्युद्भिराह्रादाश्चरन्ति । तस्मादाहुर्विद्योतते स्तनयति वर्षिष्यति वा इति ।

तेज एव तत्पूर्वं दर्शयित्वाऽथापः सृजते। तेज उपास्स्वेति ॥ १ ॥

तेज जल से बढ़कर है। क्योंकि तेज वायु के साथ मिलकर आकाश को तपाता है। तब लोग कहते हैं, गर्म होरहा है, तप रहा है, बरसेगा। सो तेज ही यह [अपने आप को] पहले दिखलाकर तब जलों को रचता है। तब फिर ऊपर और चारों तर्फ चपकती हुई बिजलियों के साथ मेघकी गर्जनाएं प्रकट होती हैं, तब लोग कहते हैं 'चमकता है, गर्जता है, बरसेगा' सो यहां भी तेज ही [बिजली के रूप में] पहले अपने आप को दिखलाकर जलों को रचता है, सो तुम तेज को उपासो ॥ १ ॥

स यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते तेजस्वी वै स तेजस्वतो लोकान् भास्वतोऽपहततमस्कानभिसिद्ध्यति, यावत्तेजसो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति यस्तेजो ब्रह्मेत्युपास्ते। 'अस्ति भगवस्तेजसो भूय इति'। 'तेजसो वाव भूयोऽस्तीति'। 'तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति' ॥ २ ॥

वह जो तेज को ब्रह्म के तौर पर उपासता है, वह स्वयं तेजस्वी बनकर उन लोकों को प्राप्त होता है, जो तेजवाले हैं, प्रकाश से पूर्ण हैं, और [बाहर-अन्दर के] अन्धेरे से रहित हैं। जहांतक तेजकी पहुंच है, वहां तक इसे कोई रोक नहीं होती, जो तेज को ब्रह्म के तौर पर उपासता है ॥

'क्या हे भगवन्! तेज से बढ़कर कोई वस्तु है' ॥

'हां, तेज से बढ़कर है' ॥
'भगवन् ! वह मुझे बताएं' ॥

बारहवां खण्ड

आकाशो वै तेजसो भूयान् । आकाशे वै सूर्या चन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राण्यग्निः । आकाशेनाह्वयत्याकाशेन शृणोत्याकाशेन प्रतिशृणोत्याकाशे रमत आकाशे न रमत आकाशे जायते आकाशमभिजायत आकाशमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

आकाश तेज से बढ़कर है। क्योंकि सूर्य और चन्द्र, बिजली और नक्षत्र और अग्नि आकाश में स्थित हैं। आकाश के द्वारा मनुष्य बुलाता है, आकाश के द्वारा सुनता है, आकाश के द्वारा प्रतिवचन देता है। आकाश में आनन्द भोगता है, [जब कोई किसी से मिलता है] और आकाश में आनन्द नहीं भोगता [जब वियुक्त होता है]। आकाश में [अंकुर आदि] उत्पन्न होता है, और आकाश की ओर [अंकुर आदि] उत्पन्न होता है [न कि नीचे की ओर] सो तुम आकाश को उपासो ॥ १ ॥

स य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्ते, आकाशवतो वै स लोकान् प्रकाशवतोऽसम्बाधानुरुगायवतोऽभिसिद्ध्यति । यावदाकाशस्य गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति, य आकाशं ब्रह्मेत्युपास्ते । 'अस्ति भगव आकाशाद् भूय इति । 'आकाशाद् वाव भूयोऽस्तीति । 'तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति' ॥ २ ॥

वह जो आकाश को ब्रह्म के तौर पर उपासता है, वह आकाश और प्रकाशवाले लोकों को प्राप्त होता है, जहां कोई दबाव और पीड़ा नहीं है, और जो खुले चौड़े हैं। जहां तक आकाश की पहुंच है, वहां तक इसे कोई रोक नहीं होती, जो आकाश को ब्रह्म के तौर पर उपासता है ॥

'क्या है भगवन्! आकाश से बढ़कर कोई वस्तु है' ॥

'हां, आकाश से बढ़कर है' ॥

'भगवन्! मुझे वह बताएं' ॥ २ ॥

तेरहवां खण्ड

स्मरो वा आकाशाद् भूयः। तस्माद् यद्यपि बहव आसीरन्नस्मरन्तो नैव ते कञ्चन शृणुयुर्न मन्वीरन् न विजानीरन्। यदा वाव ते स्मरेयुरथ शृणुयुरथ मन्वीरन्नथ विजानीरन्। स्मरेण वै पुत्रान् विजानाति स्मरेण पशून्। स्मरमुपास्स्वेति ॥ १ ॥

स्मृति आकाश से बढ़कर है * इस लिये यदि किसी जगह बहुत से जन भी बैठजाएं, पर वह [एक दूसरे की बात को] स्मरण न रक्खें, तो वह कुछ नहीं सुनसक्ते, कुछ नहीं मान सक्ते, कुछ नहीं जानसक्ते। जब वह स्मरण करसक्ते हैं, तब ही वह सुनसक्ते

---

* मनुष्य के सारे व्यवहार शब्द के ऊपर निर्भर रखते हैं, शब्द आकाश का धर्म है, सो आकाश के अधीन हमारे सारे व्यवहार चलरहे हैं, पर शब्द सारे स्मृति के अधीन ही काम देते हैं, इस अभिप्राय से स्मृति आकाश से बढ़कर कही है। बिना स्मृति के हर एक वस्तु न होने के बराबर होती है, क्योंकि उनसे भोग स्मृति के द्वारा होता है, और स्मृति के विना तो आकाशादि का होना भी नहीं जाना जासक्ता' [शंकराचार्य]

हैं, मान सक्ते हैं । और जान सक्ते हैं । स्मृति के द्वारा ही पुत्रों को जानता है, स्मृति के द्वारा पशुओं को [यह मेरे पुत्र हैं, यह मेरे पशु हैं, यह पहचानता है] । सो तुम स्मृति को उपासो ॥१॥

स यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते, यावत् स्मरस्य गतं तत्राऽस्य यथाकामचारो भवति, यः स्मरं ब्रह्मेत्युपास्ते। 'अस्ति भगवः स्मराद्भूय इति' । 'स्माराद्‌ वाव भूयोऽस्तीति' । 'तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति' ॥ २ ॥

वह जो स्मृति को ब्रह्म के तौरपर उपासता है, जहां तक स्मृति की पहुंच है, वहां तक उसके लिये कोई रोक नहीं होती, जो स्मृति को ब्रह्म के तौरपर उपासता है ॥

'क्या है भगवन् ! स्मृति से बढ़कर कोई वस्तु है'

हां स्मृति से बढ़कर है'

'भगवन् ! मुझे वह बताएं' ॥ २ ॥

चौदहवां खण्ड

आशा वाव स्मराद्‌ भूयसी । आशेद्धो वै स्मरो मन्त्रानधीते, कर्माणि कुरुते, पुत्रांश्चपशूंश्चेच्छते, इमञ्च लोक ममुञ्चेच्छते, आशामुपास्स्वेति ॥ १ ॥

आशा स्मृति से बढकर है * आशा से चमकी हुई स्मृति मन्त्रों को पढती है, कर्म [यज्ञ आदि] करती है, पुत्र और पशुओं की इच्छा करती है [उपाय के अनुष्ठान से इनको प्राप्त करना

---

* आशा हमें स्मर्तव्य का स्मरण कराती है, जिसकी आशा है, उसको और उसकी प्राप्ति के साधनों को हम बार २ स्मरण करते हैं, इस लिये आशा स्मरण का हेतु है ॥

चाहती है] इसलोक और उसलोक को चाहती है। सो तुम आशा को उपासो ॥ १ ॥

स य आशां ब्रह्मेत्युपास्ते, आशयाऽस्य सर्वे कामाः समृध्यन्त्यमोघा ह्याऽस्याऽऽशिषो भवन्ति, यावदाशाया गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति, य आशां ब्रह्मेत्युपास्ते। 'अस्ति भगव आशाया भूय इति'। 'आशाया वाव भूयोऽस्तीति'। 'तन्मे भगवान् ब्रवीत्विति' ॥ २ ॥

वह जो आशा को ब्रह्म के तौर पर उपासता है, आशा के द्वारा उसकी सारी कामनाएं समृद्ध [परिपूर्ण और बढ़कर] होती हैं; उसकी प्रार्थनाएं खाली नहीं जाती हैं; जहां तक आशा की पहुंच है, वहां तक इस के लिये कोई रोक नहीं होती, जो आशा को ब्रह्म के तौर पर उपासता है ॥

'क्या है भगवन् ! आशा से बढ़कर कोई वस्तु है' ॥

'हां आशा से बढ़कर है' ॥

'भगवन् ! मुझे वह बताएं' ॥ २ ॥

पन्द्रहवां खण्ड

प्राणो वा आशाया भूयान्। यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वं समर्पितं। प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति। प्राणोह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः ॥ १ ॥

प्राण * आशा से बढ़कर है । जैसे [रथ की] नाभि † में अरे प्रोए हुए होते हैं, इस प्रकार यह सब [नाम से लेकर आशा-पर्यन्त] इस प्राण में प्रोया हुआ है । प्राण प्राण से चलता है ‡ प्राण प्राण को देता है और प्राण के लिये देता है § । प्राण है पिता, प्राण है माता, प्राण है भ्राता, प्राण है बहिन, प्राण है आचार्य, प्राण है ब्राह्मण ॥ १ ॥

स यदि पितरं वा मातरं वा भ्रातरं वा स्वसारं वाऽऽचार्यं वा ब्राह्मणं वा किञ्चद् भृशमिव प्रत्याह । धिक्त्वाऽस्त्वित्यैवेनमाहुः । पितृहा वै त्वमसि मातृहा वै त्वमसि भ्रातृहा वै त्वमसि स्वसृहा वै त्वमस्याचार्यहा वै त्वमसि ब्राह्मणहा वै त्वमसि ॥ २ ॥

क्योंकि यदि कोई पुरुष पिता, माता, भाई, बहिन वा आचार्य को कुछ अनुचित सा कह देवे तो लोग उसे कहते हैं, धिक्कार है तुझे ! तूने पिता की हत्या की है, तूने माता की हत्या की है,

---

* प्राण से यहां अभिप्राय सांस नहीं, किन्तु समष्टिलिङ्गदेह, हिरण्यगर्भ, प्रज्ञात्मा से अभिप्राय है, इसी सूत्र में सब चर अचर प्रोया हुआ है । यही मुख्य प्राण है ॥

† जैसे अरों में पहिये की धारा लगी होती है, और अरे नाभि में लगे होते हैं, इस प्रकार यह भूतमात्रा (शब्दादि और पृथिवी आदि विषय) प्रज्ञामात्राओं (शब्दादि के ज्ञान और ज्ञानके हेतु इन्द्रियों) में लगी हुई हैं, और प्रज्ञामात्राएं प्राण में लगी हुई हैं (शंकराचार्य)

‡ और सब कुछ इस प्राण के द्वारा चेष्टावाला होता है, पर प्राण स्वयं अपनी ही शक्ति से चेष्टा वाला है ॥

§ प्राण के अधीन सब चराचर की स्थिति है, इसलिये देनेवाला प्राण है जिसको लिये देता है, वह प्राण है और जो कुछ दिया जाता है, वह प्राण है ॥

तूने भाई की हत्या की है, तूने भगिनी की हत्या की है, तूने आचार्य की हत्या की है, तूने ब्राह्मण की हत्या की है ॥ २ ॥

अथ यद्यप्येनानुत्क्रान्तप्राणाञ्छूलेन समासं व्यतिसंदहेन्नैवैनं ब्रूयुः पितृहासीति न मातृहासीति न भ्रातृहासीति न स्वसृहासीति नाचार्यहासीति न ब्राह्मणहासीति ॥ ३ ॥

पर जब उनके प्राण निकलगए हैं, तब चाहे कोई उनको इकट्ठा करके शूल से टुकड़े२ करके भी जलादे, तब उसे कोई नहीं कहेगा, कि तूने पिता की हत्या की है, तूने माता की हत्या की है, तूने भाई की हत्या की है, तूने बहिन की हत्या की है, तूने आचार्य की हत्या की है, तूने ब्राह्मण की हत्या है ॥ ३ ॥

प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवति। स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नतिवादी भवति। तञ्चेद् ब्रूयुरतिवाद्यसीति अतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापन्हुवीत ॥ ४

[इस लिये] प्राण ही यह सब [पिता माता आदि, और सारा जङ्गम स्थावर] है*। जो इस प्रकार (पूर्वोक्त रीति से प्राण ही सब कुछ है) देखता है, इसप्रकार मानता है, इसप्रकार समझता है, वह

* पिता माता वही हैं, जब कि उनको अनुचित वचन कहने में पितृहत्या और मातृहत्या लगती है, जब तक कि उन में प्राण है। और फिर वही पिता माता है, जब वह प्राण से वियुक्त हैं, तो उनको उलट पलट जलाने में भी मनुष्य हत्यारा नहीं होता, इस लिये वस्तुतः प्राण ही पिता माता है ॥

अतिवादी*बनता है। उसे यदि लोग कहें, कि तू अतिवादी है, तो वह बेधड़क कहे, हां मैं अतिवादी हूं, वह इससे इन्कार नहीं करे ॥४॥

सोलहवां खण्ड

एष तु वा अतिवदति, यःसत्येनातिवदति । सोऽहं भगवः सत्येनातिवदानीति । सत्यं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति । सत्यं भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

† पर वस्तुतः अतिवादी वह है, जो सत्य [ब्रह्म] को सब से बढ़कर कहता है ॥

'हे भगवन् ! मैं सत्य से अतिवादी बनूं' आपकी (कृपा से मैं सत्य को जानकर वास्तव में अतिवादी बनना चाहता हूं) ॥

(सनत्कुमार)'तब तुझे सत्य को जानने की इच्छा होनी चाहिये'.

(नारद)'हां हे भगवन् ! मैं सत्य को जानना चाहता हूं' ॥

सत्तरहवां खण्ड

यदा वै विजानात्यथ सत्यं वदति, नाविजानन्

---

* अतिवादी, वह पुरुष जो किसी ऐसी वस्तु को प्रकट करे,जो उन सबसे परे की हो, जिनका वर्णन पहले आचुका हो। यहां प्राण को ब्रह्म कहने वाला उन सब से आगे बढ़कर कहता है, जो 'नाम ब्रह्म है इस से आरम्भ करके 'आशा ब्रह्म है, तक पहुंचे हैं। मुण्डक ३।१।४ में अतिवादी परब्रह्म के जाननेवाले के मुकाबिले में आया है॥

† नारद ने आगे नहीं पूछा, कि कोई वस्तु प्राण सेबढ़कर है। वह प्राण को ब्रह्म कहने वाला अतिवादी(बढ़कर कहने वाला)है,सुन कर सन्तुष्ट हो गया है, कि प्राण ही सब से बढ़कर (परब्रह्म) है। पर सनत्कुमार इस योग्य शिष्य को सच्चा अतिवादी बनाना चहते हुए और आगे (सत्य ब्रह्म पर) लेजाते हैं। इस लिये यह १६ से २६ ख तक का उपदेश है ॥

सत्यं वदति, विजानन्नेव सत्यं वदति । विज्ञानं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति । विज्ञानं भगवो विजिज्ञासइति १

जब कोई पुरुष (सत्य को) समझता है, तब वह सत्य को कहता है, जो सत्य को समझता नहीं है, वह सत्य को नहीं बतलाता*। केवल वही, जो सत्य को जानता है, सत्य को बतलाता है । सो हमें विज्ञान की जिज्ञासा करनी चाहिये ॥

'हे भगवन् मैं इस विज्ञान को जानना चाहता हूं' ॥ १ ॥

अठारहवां खण्ड

यदा वै मनुतेऽथ विजानाति । नामत्वा विजानाति । मत्वैव विजानाति । मतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति । 'मतिं भगवो विजिज्ञास' इति ॥ १ ॥

जब कोई पुरुष मनन करता है, तब वह समझता है । वह जो मनन नहीं करता, नहीं समझता । केवल वही समझता है, जो मनन करता है । सो हमें मनन करने की जिज्ञासा करनी चाहिये ॥

'भगवन् मैं मनन को जानना चाहता हूं' ॥ १ ॥

उन्नीसवां खण्ड

यदा वै श्रद्दधात्यथ मनुते, नाश्रद्दधन्मनुते, श्रद्दधदेव मनुते, श्रद्धात्वेव विजिज्ञासितव्येति । श्रद्धां भगवो विजिज्ञास इति ॥ १ ॥

---

*क्योंकि अग्नि जिस को वह सत्य समझता है, वह अग्नि केवल तीन तत्वों का मेल है (देखो ६।४)जो केवल विकार रूप नाममात्र है इसी तरह वह तीन तत्व भी विकाररूप नाममात्र से भिन्न अनृत हैं, जो उस से परे जानता है, वह असली सत्य को जानता है ॥

जब कोई पुरुष श्रद्धा रखता है, तब वह उसका मनन करता है वह जो श्रद्धा नहीं रखता, मनन नहीं करता। केवल वही जो श्रद्धा रखता है, मनन करता है। सो हमें श्रद्धा की जिज्ञासा करनी चाहिये॥

'भगवन् मैं श्रद्धा को जानना चाहता हूं' ॥ १ ॥

बीसवां खण्ड

यदा वै निस्तिष्ठत्यथ श्रद्दधाति। नानिस्तिष्ठञ्छ्रद्दधाति। निस्तिष्ठन्नेव श्रद्दधाति निष्ठा त्वेव विजिज्ञासितव्येति। 'निष्ठां भगवो विजिज्ञास इति'॥१॥

जब कोई पुरुष निष्ठावाला (गुरुसेवापरायण) होता है तब वह श्रद्धा वाला बनता है। वह जो निष्ठा वाला नहीं है, श्रद्धा वाला नहीं होता है, केवल वही जो श्रद्धा वाला है, निष्ठा वाला होता है। सो हमें निष्ठा की जिज्ञासा करनी चाहिये॥

' भगवन् मैं निष्ठा को जानना चाहता हूं ' ॥ १ ॥

इक्कीसवां खण्ड

यदा वै करोत्यथ निस्तिष्ठति। नाकृत्वा निस्तिष्ठति। कृत्वैव निस्तिष्ठति। कृतिस्त्वेव विजिज्ञासितव्येति। 'कृतिं भगवो विजिज्ञास इति' ॥ १ ॥

जब कोई पुरुष (अपने कर्तव्य*को) पूरा करता है, तब वह निष्ठावाला बनता है। वह जो अपने कर्तव्य को पूरा नहीं करता, निष्ठावाला नहीं बनता। केवल वही, जो अपने कर्तव्य को पूरा करता है, निष्ठावाला बनता है। सो हमें कर्तव्य की जिज्ञासा करनी चाहिये॥

' हे भगवन ! मैं कर्तव्य को जानना चाहता हूं' ॥ १ ॥

---

*विद्यार्थी के धर्म-इन्द्रिय संयम और चित्त की एकाग्रता आदि

बाईसवां खण्ड

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति । नासुखं लब्ध्वा करोति । सुखमेव लब्ध्वा करोति । सुखं त्वेव विजिज्ञासितव्यमिति । 'सुखं भगवो विजिज्ञास इति'॥१॥

जब कोई पुरुष (अपने आप में) सुख लाभ करता है, तब वह अपने कर्तव्य को पूरा करता है। वह जो (उस से) सुख लाभ नहीं करता, अपने कर्तव्य को पालन नहीं करता। केवल वही, जो (उस से) सुख लाभ करता है, कर्तव्य को पूरा करता है। सो हमें सुख की ही जिज्ञासा करनी चाहिये ॥

' हे भगवन् मैं सुख को जानना चाहता हूं' ॥ १ ॥

तेईसवां खण्ड

'यो वै भूमा तत्सुखं । नाल्पे सुखमस्ति । भूमैव सुखम् । भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति' । 'भूमानं भगवो विजिज्ञास इति' ॥ १ ॥

जो भूमा (निरतिशय, बेहद) है, वह सुख है, अल्प (हद-वाले) में सुख नहीं है। केवल भूमा (बेहद) ही सुख है * सो

* भूमा, बड़ा, अभिप्राय निरतिशय (बेहद) से है। अल्प=छोटा, अभिप्राय सातिशय (हद्‌वाले) से है। जो वस्तु अल्प है, वह असली सुख का हेतु नहीं, क्योंकि अल्प वस्तु अधिक की तृष्णा का हेतु बनती है, और तृष्णा दुःख का बीज है। इसी लिए विषयसुख तृष्णा को बढाकर उसका हेतु बनता है, और तृष्णा दुःखका बीज है। सो यह विषयसुख आपाततः (जाहरा) सुख प्रतीत होता है, पर वस्तुतः दुःखका बीज होने से दुःखरूप ही है। हां वह भूमा ही है, जो केवल सुखरूप है, वहां तृष्णा का बना-रहना असम्भव है, क्योंकि वह निरतिशय सुख है ॥

भूमा की ही जिज्ञासा करनी चाहिए ॥

'हे भगवन् मैं भूमा को जानना चाहता हूं'

चौबीसवां खण्ड

यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा। अथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्। यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्। 'स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति' 'स्वे महिम्नि, यदि वा न महिम्नीति' ॥ १ ॥

जहां पुरुष न कुछ और देखता है, न कुछ और सुनता है, न कुछ और जानता है, वह है भूमा। और जहां पुरुष कुछ और देखता है, और सुनता है, और जानता है, वह अल्प है। जो भूमा है, वह अमृत है, और जो अल्प है, वह मर्त्य (मरने वाला) है ॥

'हे भगवन्! भूमा किस में प्रतिष्ठित (किसके आश्रय) है' ॥

अपनी महिमा में-या (या यूं कहो) किसी भी महिमा में नहीं ॥१॥

गोअश्वमिह महिमेत्याचक्षते हस्तिहिरण्यं दासभार्यं क्षेत्राण्यायतनानीति। नाहमेवं ब्रवीमि, ब्रवीमीति हो वाचान्योह्यन्यस्मिन् प्रतिष्ठित इति ॥ २ ॥

संसार में लोग गौ और घोड़े, हाथी और सोना, दास और स्त्री, क्षेत्र और घर इन को महिमा कहा करते हैं। मैं (भूमा को) ऐसा नहीं कहता, क्योंकि (ऐसा कहने में) दूसरा (मालिक) दूसरे (अपनी मलकीयत में) प्रतिष्ठित होता है, (पर भूमा अपने आप से भिन्न किसी वस्तु में प्रतिष्ठित नहीं है) किन्तु उसने कहा, मैं कहता हूं कि ॥ २ ॥

पच्चीसवां खण्ड

स एवाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः सएवेद ँ सर्वमिति । अथातोऽहङ्कारादेश एव अहमेवाधास्तादह मुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतो ऽहमेवेद ँ सर्वमिति ॥ १ ॥

वही (भूमा ही) नीचे है, ऊपर है, पीछे है, सामने है, दाएं है और बाएं है-वही यह सब कुछ है ॥

अब उस (भूमाका) अहङ्कारादेश (मैं हूं के तौर पर उपदेश) है-मैं ही नीचे हूं मैं ही ऊपर हूं, मैं पीछे हूं मैं सामने हूं, मैं दाएं हूं मैं बाएं हूं, मैं ही यह सब कुछ हूं ॥ १ ॥

अथात आत्मादेशएव-आत्मैवाधस्तादात्मोपरिष्टादात्मा पश्चादात्मा पुरस्तादात्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवद ँ सर्वमिति । स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः । स स्वराड् भवति । तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति । अथ येऽन्यथाऽतो विदुरन्यराजानस्ते क्षय्यलोका भवन्ति तेषा ँ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवति ॥ २ ॥

निचला (उस भूमाका) आत्मा देश (आत्मा के तौर पर उपदेश) है-आत्माही नीचे है, आत्मा ऊपर है, आत्मा पीछे है,

आत्मा सामने है, आत्मा दाएं है, आत्मा बाएं है, आत्मा ही यह सब कुछ है ॥

वह जो इस प्रकार देखता हुआ, मनन करता हुआ और जानता हुआ आत्मा में प्रेम रखता है, आत्मा में खेलता है आत्मा के साथ जोड़ा होता है, आत्मा में अनन्द भोगता है, वह स्वराट् (स्वतन्त्र आधिपति) बन जाता है, उस का सब लोकों में यथेच्छाचार होता है (अर्थात् वह सारे लोकों का मालिक होता है) ॥

पर वह जो इससे भिन्न प्रकार से जानते हैं, वह क्षय होने वाले लोकों में रहते हैं, और वहां उनपर दूसरे राज्य करते हैं, उनका सब लोकों में अकामचार होता है (स्वतन्त्रता नहीं होती)।२।

छब्बीसवां खण्ड

तस्य ह वा एतस्यैवं पश्यत एवं मन्वानस्यैवं विजानत आत्मतः प्राण आत्मतः आशाऽऽत्मतः स्मर आत्मत आकाश आत्मतस्तेज आत्मत आप आत्मत आविर्भावतिरोभावात्मतोऽन्नमात्मतो बलमात्मतो विज्ञानमात्मतो ध्यानमात्मतश्चित्त-मात्मतः संकल्पः आत्मतो मन आत्मतःकर्माण्यात्मत एवेदं ᳫ सर्वमिति ॥ १ ॥

जो इस प्रकार देखता है, मानता है, समझता है, उसके लिए आत्मा से प्राण उत्पन्न होता है, आत्मा*से आशा, आत्मा से स्मृति

---

* वह जो स्वाराज्य को प्राप्त है, उसके लिए सर्वात्मविज्ञान से पहले, प्राण से लेकर नाम तक (जिनपर ध्यान धरना बतलाया है) की उत्पत्ति और प्रलय आत्मा से भिन्न सब से थे, अब वह सर्वात्म-

आत्मा से आकाश, आत्मा से तेज, आत्मा से जल, आत्मा से आविर्भाव और तिरोभाव * [प्रकट होना और लय होना] आत्मा से अन्न, आत्मा से बल, आत्मा से विज्ञान, आत्मासे ध्यान आत्मा से चित्त, आत्मा से संकल्प, आत्मा से मन, आत्मा से वाणी, आत्मा से नाम, आत्मा से मन्त्र, आत्मा से कर्म (यज्ञ आदि)—हां यह सब कुछ आत्मा से ही उत्पन्न हुआ है ॥१॥

तदेष श्लोको "न पश्यो मृत्युं पश्यति न रोगं नोत दुःखताम् । सर्व ँ ह पश्यःपश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशइति" । स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनश्चैकादश स्मृतः । शतञ्च दशचैकश्च सहस्राणि च विं ँ शतिः । आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः । तस्मै मृदितकषायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः, त ँ स्कन्द इत्याचक्षते त ँ स्कन्द इत्याचक्षते ॥ २ ॥

इस पर यह श्लोक है, ' वह जो यह देखता है (कि यह सब कुछ आत्मा से ही है) वह न मृत्यु को देखता है, न ही रोग को, न

विज्ञान होनेपर स्वात्मा से ही होते हैं वैसे ही और भी सारा व्यवहार विद्वान् के लिए आत्मा से ही होजाता है (शंकराचार्य)

* पिछले खण्डों में प्राण आदि के मध्य में आविर्भाव और तिरोभाव का वर्णन नहीं आया है । यहां उसका आना प्रकट करता है, कि या तो उनमें से इसका वर्णन लुप्त होगया है, या यहां आवश्यक समझकर बढ़ा दिया गया है ॥

ही दुःख को देखता है । वह जो यह देखता है,वह हर एक वस्तुको देखता है और हर एक प्रकार से हरएक वस्तु को प्राप्त होता है ॥

वह एक प्रकार से है (सृष्टि से पूर्व) वह तीन प्रकार से होता है (तेज, जल; और अन्न = पृथ्वी) वह पांच प्रकार से होता है वह सात प्रकार से होता है, वह नौ प्रकार से होता है, और फिर वह ग्यारह प्रकार का वतलाया गया है, और सौ और दस, और एक और वीस हजार * है । जब मनुष्य का आहार † शुद्ध हो जाता है;तो उसका अन्तःकरण शुद्धहोजाताहैऔरजव अन्तःकरण शुद्धहोजाता है;तोस्मृति अटल होजाती है । और जब (भूमा आत्मा की) स्मृति पक्की होजाती है, तव सारी गांठें खुल जाती हैं ॥

सो इस प्रकार भगवान् सनत्कुमार ने नारद को अन्धकार का परला किनारा दिखला दिया; जब इसके (राग द्वेष आदि) मैल पहले मल दिए गए। उसको (सनत्कुमार को) लोग स्कन्द कहते हैं, हां उसको स्कन्द कहते हैं ‡ २ ॥

—:०:—

* वह सृष्टि के प्रभेद से पहले एक प्रकार से ही होता है, और एक प्रकार का ही हुआ सृष्टि काल में तीन आदि भेदों से अनन्त भेदों वाला हो जाता है, और फिर संहारकाल में अपनी असली एक प्रकारता को प्राप्त होता है । [शंकराचार्य] । मिलाओ मैत्रा० उप० ५ । २ ॥

† इन्द्रियों का आहार, शब्द आदि विषयों का भोग, यह जब राग द्वेष मोहरूप दोषों से शुद्ध होता है ॥

‡ दो वार पाठ प्रपाठक की समाप्ति के लिये है ॥

ओम्

आठवां प्रपाठक * पहला खण्ड ।

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः, तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ १ ॥

यह जो ब्रह्मपुर (ब्रह्म का पुर=शरीर) है, इस में एक छोटा सा (हृदय) कमल का मन्दिर है, इस (मन्दिर) के अन्दर एक छोटा सा आकाश (ब्रह्म) है। अब उस (छोटे आकाश) के अन्दर जो कुछ है, उसका अन्वेषण करना चाहिए उसकी जिज्ञासा करनी चाहिए ॥ १ ॥

तञ्चेद्ब्रूयुः 'यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म, दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः, किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ २ ॥

और यदि उसे कहें 'यह जो ब्रह्म का पुर है, छोटा सा इस में कमल का मन्दिर, और छोटा सा उस (हृदय कमल) के अन्दर आकाश, अब इसके अन्दर वह क्या है, जिसका अन्वेषण करना चाहिए, जिसकी जिज्ञासा करनी चाहिए †' ॥ २ ॥

---

* ब्रह्म एक अद्वितीय है और दिशा और काल की सीमा से परे है, यह छटे और सातवें प्रपाठक में वर्णन किया है। अब इस आठवें प्रपाठक में, उसकी प्राप्ति का स्थान-हृदय, उसकी प्राप्ति का उपाय ब्रह्मचर्य आदि, उपासना का फल, और आत्मा के परमार्थ स्वरूप का वर्णन करते हैं।

† छोटा सा तो हृदय, उसके अन्दर फिर और भी छोटा सा आकाश, अब उस छोटे से के अन्दर भला क्या होगा, जिसको

स ब्रूयाद् 'यावान् वा अयमाकाश स्तावानेषो-ऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथ्वी अन्तरेव समाहिते । उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति' ॥ ३ ॥

तब वह कहे 'जितना बड़ा यह (बाहरका) आकाश है, उतना बड़ा यह हृदय के अन्दर (का) आकाश है। दोनों इसमें अन्दर ही द्यौ और पृथिवी समाए हुए हैं; अग्नि और वायु दोनों, सूर्य और चन्द्र दोनों, बिजलियें और नक्षत्र, और जो कुछ इस (आत्मा) का इस लोक में है, और जो नहीं है (अर्थात् जो कुछ होचुका है वा होगा) वह सब इस में समाया हुआ है * ॥३॥

तश्चेद् ब्रूयुः 'अस्मिꣳश्चेदिदं ब्रह्मपुरे सर्वꣳसमा-

ढूंढना चाहिए, और यदि कुछ वेरमात्र वहां ढूंढने से मिलभी गया, तो उससे ढूंढनें वाले का क्या बन जाएगा, जिसके लिए इतने गौरव के साथ यह उपदेश दिया जारहा है,"उस के अन्दर जो कुछ है, उसे ढूंढो, उसकी जिज्ञासा करो"॥

* हृदय के अन्दर के आकाश से ब्रह्म अभिप्रायहै, इसलिए हृदय के अन्दर छोटा सो आकाश कहने से यह अभिप्राय नहीं, कि बस वह हृदय के अन्दर सारा समाया हुआ है, प्रत्युत न केवल हृदय, अपितु यह सारा ब्रह्माण्ड उसके अन्दर समाया हुआ है। जो यह हृदय में आकाश है, यह छोटा सा नहीं, किन्तु इतना बड़ा है, जितना बाह्य आकाशहै, किन्तु वहशुद्धस्वच्छ विज्ञानज्योतिःस्वरूपसेहृदयमें उतना मात्र साक्षात् होता है, इसलिए छोटा सा कहा है। यहां बाह्य आकाश की उपमा भी बड़ा बतलानेमें है, वस्तुतःआकाश भी उसके अन्दरहै॥

हित ँ सर्वाणि च भूतानि सर्वे च कामा यदैनज्ज-
रावाप्नोति प्रध्वंसतेवा किं ततोऽतिशिष्यत इति ४।

और यदि उसे कहे 'इस ब्रह्मपुर में यदि यह सब कुछ समाया हुआ है, सारे भूत और सारी कामनाएं (काम्यवस्तुएं, समाई हुई हैं) तो जब इसे बुढ़ापा आघेरता है, वा यह टुकड़े २ होजाता है, तब फिर क्या (इसका) पीछे बच रहता है' ॥ ४ ॥

सब्रूयात् 'नाऽस्यजरयैतज्जीर्यति न वधेनास्यहृ-
न्यते, एतत्सत्यं ब्रह्मपुर मस्मिन् कामाः समाहिताः
एष आत्मा ऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको-
ऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्य-कामः सत्यसङ्कल्पो यथा
ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथाऽनुशासनं यं यमन्त-
तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तंतमे
वोपजीवन्ति ॥ ५ ॥

तब वह कहे 'इस (शरीर) के बुढ़ापे से वह (आकाश, हृदयाकाशस्थ ब्रह्म) बूढ़ा नहीं होता, और न इसके मृत्यु से वह मरता है, यह (ब्रह्म) है सच्चा ब्रह्मपुर (नकि शरीर) इस में सारी कामनाएं समाई हुई हैं। यह आत्मा है जो सारे पापों से अलग है, जरा और मृत्यु से परे है शोक से परे है भूख और प्यास से परे है, वह सच्ची कामनाओं वाला और सच्चे संकल्पों वाला है। जैसे * यहां प्रजाएं (जिन पर दूसरा स्वामी है, उस

---

* जो स्वाराज्य की कामना वाले हैं उनके लिए इस आत्मा का जानना आवश्यक है, क्योंकि केवल कर्म का फल थोड़ा और क्षीण

स्वामी के) शासन (हुक्म) के अनुसार चलती हैं, और जिस २ भाग से उनका प्यार (इक) हो, चाहे वह कोई देश हो, वा क्षेत्र का टुकड़ा, वह उस २ का ही उपभोग करती हैं ॥ ५ ॥

तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते । तद्य इहात्मानमननुविद्य व्रजन्त्येता ॅश्च सत्यान् कामा ॅ स्तेषा ॅ सर्वेषु लोकेष्वकामचारो भवत्यथ य इहात्मानमनुविद्य व्रजन्त्येता ॅश्च सत्यान् कामा ॅ स्तेषा ॅ सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ६ ॥

और जैसे यहां कर्म (खेती आदि वा सेवा आदि) से जो लोक जीता गया है (फल प्राप्त हुआ है) वह क्षीण हो जाता है, वैसे ही परलोक में भी वह फल क्षीण होजाता है, जो यहां पुण्यकर्मों के पूरा करने से जीता गया है । तब वह पुरुष , जो इस आत्मा को और इन सच्ची कामनाओं को ढूंढे बिना ही इस लोक से चल देते हैं, उनके लिए सारे लोकों में कोई स्वतन्त्रता नहीं है । पर वह जो उस आत्मा को और इन सच्ची कामनाओं को पाकरके इस लोक से चलते हैं, उनके लिए सब लोकों में स्वतन्त्रता है ॥ ६ ॥

दूसरा खण्ड

स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति, तेन पितृलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ १ ॥

होने वाला है, और उसमें भी उनके लिए स्वतन्त्रता नहीं होती, हां ज्ञानका फल स्वाराज्य है, स्वतन्त्रता है, यह दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं ।

* वह यदि पितृलोक † की कामना वाला होता है, तो इस के संकल्पमात्र से पितर उसके सामने प्रकट होते हैं; और वह पितृलोक से सम्पन्न हुआ (पितृलोक की सम्पत्ति लाभ करके) आनन्द भोगता है ‡ ॥ १ ॥

अथ यदि मातृलोककामो भवति, संकल्पादेवास्य मातरःसमुत्तिष्ठन्ति,तेनमातृलोकेन सम्पन्नो महीयते २

और यदि वह मातृलोक की कामना वाला होता है, तो इस के संकल्पमात्र से माताएं उसके सामने प्रकट होती हैं, और वह मातृ-लोक से सम्पन्न होकर आनन्द भोगता है ॥ २ ॥

अथ यदि भ्रातृलोककामो भवति, संकल्पादेवास्य भ्रातरःसमुत्तिष्ठन्ति,तेन भ्रातृलोकेनसम्पन्नोमहीयते३

और यदि वह भ्रातृ-लोक की कामना वाला होता है, तो इसके संकल्पमात्र से भाई प्रकट होते हैं, और वह भ्रातृ-लोक से सम्पन्न हुआ आनन्द भोगता है ॥ ३ ॥

अथ यदि स्वसृलोककामो भवति, संकल्पादेवास्य स्वसारःसमुत्तिष्ठन्तितेनस्वसृलोकेन सम्पन्नोमहीयते४

और यदि वह भगिनीलोक की कामना वाला होता है, तो

---

* किस तरह सब लोकों में उसकी स्वतन्त्रता होती है, यह वर्णन करते हैं ॥

† लोक वह है; जिसमें रहकर, वा जिन साधनों के साथ हम अपनी कमाई का फल भोगते हैं। यहां पितृलोक से तात्पर्य पितरों के सद्भाव और उनके साथ आनन्द भोगने से है ॥

‡ महीयते=महिमावाला होता है, अपनी महिमा को अनुभव करता है, आनन्द भोगता है ॥

इसके संकल्पमात्र से बहिनें इसके सामने प्रकट होती हैं, और वह भगिनी लोक से सम्पन्न होकर अनन्द भोगता है ॥४॥

अथ यदि सखिलोककामो भवति, संकल्पादेवास्य सखायः समुत्तिष्ठन्ति तेन सखिलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ५ ॥

और यदि वह मित्रलोक की कामना वाला होता है, तो इसके संकल्पमात्र से मित्र प्रकट होते हैं, और वह मित्रलोक से से सम्पन्न होकर आनन्द भोगता है ॥ ५ ॥

अथ यदि गन्धमाल्यलोककामो भवति संकल्पादेवास्य गन्धमाल्ये समुत्तिष्ठतः, तेन गन्धमाल्य लोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ६ ॥

और यदि वह गन्धमाल्य (गन्ध और मालाके) लोककी कामना वाला होता है,तो इसके संकल्पमात्र से गन्ध और माला प्रकट होती हैं, और वह गन्धमाल्यलोक से सम्पन्न होकर आनन्द भोगता है ६॥

अथ यद्यन्नपानलोककामो भवति संकल्पादेवास्यान्नपाने समुत्तिष्ठतः तेनान्नपानलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ७ ॥

और यदि वह अन्नपान (अन्न और पान के) लोक की कामना वाला होता है, तो इसके संकल्पमात्र से अन्न और पान प्रकट होते हैं, और वह अन्नपानलोक से सम्पन्न होकर आनन्द भोगता है ॥ ७ ॥

अथ यदि गीतवादित्रलोककामो भवति संकल्पा-

देवास्य गीतवादित्रे समुत्तिष्ठतः, तेन गीतवादित्र लोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ८ ॥

और यदि वह गीतवादित्र (गीत और बाजे के) लोक की कामना वाला होता है, तो इसके संकल्पमात्र से गीत और बाजे प्रकट होते हैं, और वह गीतवादित्रलोक से सम्पन्न होकर आनन्द भोगता है ॥ ८ ॥

अथ यदि स्त्रीलोककामो भवति संकल्पादेवास्य स्त्रियः समुत्तिष्ठन्ति तेन स्त्रीलोकेन सम्पन्नो महीयते ॥ ९ ॥

और यदि वह स्त्री लोक की कामना वाला होता है. तो इस के संकल्पमात्र से स्त्रियें प्रकट होती हैं और वह स्त्रीलोक से सम्पन्न होकर आनन्द भोगता है ॥ ९ ॥

यं यमन्तमभिकामो भवति यं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठति, तेन सम्पन्नो महीयते १०॥

निदान जिस २ विषय को वह प्यार करता है, जिस को चाहता है, वह इस के संकल्पमात्र से प्रकट होता है, और वह उस से सम्पन्न होकर आनन्द भोगता है ॥ १० ॥

तीसरा खण्ड

त इमे सत्याः कामा अनृतापिधानाः तेषा ᳙ सत्याना ᳙ सतामनृतमपिधानम् । यो यो ह्यस्येतः प्रैति न तमिह दर्शनाय लभते ॥ १ ॥

सो यह सच्ची कामनाएं झूठ से ढकी हुई हैं; अर्थात् यद्यपि

यह कामनाएं सत्य हैं, पर इन पर यह एक ढकना है, जो झूठ है। जो २ कोई इस (पुरुष) का यहां से चल बसा है, उसको फिर यहां (इन आंखों से) देखने के लिये वह नहीं पासक्ता॥१॥

अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेता यच्चान्यदिच्छन्न लभते, सर्वं तदत्र गत्वा विन्दते। अत्र ह्यस्यैते सत्याःकामाःअनृतापिधानाः। तद् यथापि हिरण्यनिधिः निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्देयुः, एवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः ॥ २ ॥

पर जो इस के यहां जीवित हैं, जो मर चुके हैं, और जो कुछ और भी हैं जिसको वह चाहता है, पर पा नहीं सक्ता, उस सब को यहां (हृदयस्थ ब्रह्म में) पहुंच कर पालेता है, (यदि वह अपने हृदय में उतरें, जहां हृदयाकाश में ब्रह्म रहता है)। क्योंकि यहां (हृदयस्थ ब्रह्म में) इसकी सच्ची कामनाएं हैं, जो झूठ से ढकी हुई हैं* जैसाकि दबे हुए सोने के निधि (खजाने) के ऊपर २ घूमते हुए भी वह लोग जो क्षेत्रज्ञ (खनिविद्या के वेत्ता) नहीं हैं; वह उसे नहीं

* सच्ची कामनाएं, जिनका पहले और दूसरे खण्ड में वर्णन है, वह हर एक के हृदय के अन्दर सदा विद्यमान हैं, उन कामनाओं को हरएक पुरुष इस लिये नहीं पासका, कि उनके ऊपर एक परदा पड़ा हुआ है, वह परदा झूठका है अर्थात् बाहर के विषयों में तृष्णा और उसके परवश होकर स्वेच्छाचारी होना (न कि शास्त्र की मर्यादा में रहना) यह कामनाएं मिथ्याज्ञान से होती हैं, इस लिये झूठी हैं। जब यह झूठका परदा उठ जाता है, तो वह सच्ची कामनाएं प्रकाशित होती हैं॥

पासक्ते, इसी प्रकार यह सारी प्रजाएं (जन्तु) दिन प्रतिदिन ब्रह्मलोक में जाती हैं (सुषुप्ति में हृदयस्थब्रह्म में लीन होती हैं) तथापि वह उसे नहीं ढूंढ पातीं; क्योंकि वह झूठ से चलाई जा रही हैं, (अर्थात् झूठ ने उनको अपने स्वरूप से हटाकर बाहर के विषयों में फेंका हुआ है) ॥ २ ॥

स वा एष आत्मा हृदि, तस्यैतदेव निरुक्तꣳ हृद्ययमिति, तस्माद्धृदयम्, अहरहर्वा एवंवित् स्वर्गलोकमेति॥३॥

यह आत्मा हृदय में है, इसका यही निर्वचन है 'हृदि+अयम्' * अर्थात् हृदय में यह (आत्मा) है, इस लिये यह हृदय कहा जाता है। वह जो इस प्रकार (हृदय में आत्मा है, इस लिये यह हृदय कहलाता है) जानता है, वह प्रतिदिन (सुषुप्ति में) स्वर्ग लोक (हृदयस्थ ब्रह्म) में जाता है ॥ ३ ॥

अथ य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाच, एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति। तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यमिति॥ ४ ॥

अब यह पूरा निर्मल हुआ † (आत्मा) इस (भौतिक) शरीर से उठकर (शरीर में आत्मभावना को त्याग कर) और परम ज्योति को प्राप्त होकर अपने असली रूप से प्रकट होता है,

---

* हृद् अर्थात् हृदय और 'अयम्' अर्थात् यह अर्थात् आत्मा। सो 'हृद्+अयम्=हृदयम्' है। इस में आत्मा रहता है, इस लिये इस को हृदय कहते हैं ॥

† मिलाओ छान्दो० ८।१२॥

यह आत्मा है, यह उसने कहा (जब उसे शिष्यों ने पूछा) । यह अमृत है, यह अभय है यह ब्रह्म है । इस ब्रह्म का नाम है सत्य ।४।

तानि ह वा एतानि त्रीण्यक्षराणि स ति यमिति । तद्यत् सत् तदमृतमथ यत्ति तन्मर्त्यमथ यद्यं तेनोभे यच्छति, यदनेनोभे यच्छति तस्माद्यम् । अहरहर्वा एवंवित् स्वर्गं लोकमेति ॥ ५ ॥

इस नाम (सत्य) के तीन अक्षर हैं सत्-ति-य* । जो 'सत्' है यह अमृत है, और जो 'त' है यह मर्त्य है, और जो 'य' है, इस से वह दोनों को नियम में रखता है । जिस लिये इस से वह दोनों को नियम में रखता है (यच्छति) इसलिये उसे 'य' कहते हैं । वह जो इस प्रकार जानता है, वह दिन प्रतिदिन स्वर्ग लोक (ब्रह्म) को प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

चौथा खण्ड

अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानाम सम्भेदाय । नैत ँ सेतुमहोरात्रे तरतो नजरा न मृत्यु-र्नशोको न सुकृतं न दुष्कृतम् ॥ १ ॥

यह आत्मा है यह एक सेतु† (पुल) है, एक हद है, जिससे

---

* ति में 'इ' अनुबन्ध है । सो 'सत्+त्+य=सत्य' मिलाओ० बृ० ५ । ५ । १; ऐत० आ० २ । ५ । ५ ॥

† सेतु का अर्थ पुल है । पुल पानी वा कीचड़ पर से पार होने का मार्ग होता है । यह मट्टी के बन्ध भिन्न २ लोगों के खेतों की हद का काम भी देते हैं । मिलाओ मैत्री० उप० ७ । ७ । कठ० उप० ३ । २; मुण्ड० उप० २ । २ । ५ ॥

कि यह लोक गड़बड़ा न जाएं* दिन और रात इस सेतु को नहीं उलांघते, न जरा; न मृत्यु न शोक, न पुण्य न पाप ॥१॥

सर्वे पाप्मानोऽतो निवर्तन्तेऽपहतपाप्मा ह्येषब्रह्म-लोकः । तस्माद्वा एत ँ सेतुं तीर्त्वाऽन्धः सन्ननन्धो भवति विद्धःसन्नविद्धो भवत्युपतापी सन्ननुपतापी भवति । तस्माद्वा एत ँ सेतुं तीर्त्वाऽपि नक्तमहरे-वाभिनिष्पद्यते । सकृद्विभातो ह्येवेष ब्रह्मलोकः ॥२॥

सारे पाप इस से वापिस लौटते हैं,क्योंकि यह ब्रह्मलोक पाप से पृथक् (वरी) है । इस लिये वह जो इस सेतु से पार होता है वह यदि अन्धा है, तो अनन्ध होजाता है, वींधा हुआ (ज़ख्मी) है तो अविद्ध (नज़ख्मी) होजाता है, रोगी है, तो अरोगी हो जाता है । इस लिये जब पुरुष इस सेतु से पार होता है, तो रात भी दिन ही बन जाती है (अन्धेरा सारा दूर हो जाता है) क्योंकि यह ब्रह्म लोक एकवारही (सदा के लिये) चमका हुआ है॥२॥

तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषा-मेवैषब्रह्मलोकस्तेषा ँ सर्वेषु लोकेषु कामचारोभवति।३।

यह ब्रह्मलोक केवल उन्हीं लोगों का है, जो इस ब्रह्मलोक को ब्रह्मचर्य से ढूंढते हैं; उन्हीं की सब लोकों में स्वतन्त्रता होती है ॥ ३ ॥

---

* इसी की आज्ञा में यह सारा जगत् अपनी २ मर्यादा में काम कर रहा है ॥

पांचवां खण्ड

अथ यद्यज्ञ इत्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्, ब्रह्मचर्येण ह्येव यो ज्ञाता तं विन्दते । अथ यदिष्टमित्याचक्षते ब्रह्मचर्य मेव तद्, ब्रह्मचर्येण ह्येवेष्ट्वाऽऽत्मान मनु-विन्दते ॥ १ ॥

जिसको (धार्मिकलोग) यज्ञ कहते हैं, वह वास्तव में ब्रह्मचर्य है, क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही, वह, जो जानने वाला है, उसको (ब्रह्म लोक को) पालेता है ॥

और जिसको इष्ट कहते हैं, वह वास्तव में ब्रह्मचर्य है, क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही वह ढूंढ करके (इष्ट्वा) आत्मा को पालेता है॥१॥

अथ यत् सत्रायणमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्, ब्रह्मचर्येण ह्येव सत आत्मानस्त्राणं विन्दते । अथ यन्मौनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्, ब्रह्मचर्येण ह्येवात्मान मनुविद्य मनुते ॥ २ ॥

और जिसको लोग सत्रायण कहते हैं यह वास्तव में ब्रह्म-चर्य है, क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही वह सत् (सत्यब्रह्म) से आत्मा की रक्षा (त्राण) को पाता है ॥

और जिसको लोग मौन कहते हैं, वह वास्तव में ब्रह्मचर्य है, क्योंकि ब्रह्मचर्य के द्वारा ही पुरुष आत्मा को ढूंढ करके उस पर ध्यान जमाता है (मनुते) ॥ २ ॥

अथ यदनाशकायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद्, एष ह्यात्मा न नश्यति, यं ब्रह्मचर्येणानुविन्दते ।

अथ यदरण्यायनमित्याचक्षते ब्रह्मचर्यमेव तद् ,अरश्च ह वै ण्यश्चार्णवौ ब्रह्मलोके तृतीयस्यामितो दिवि तदैरंमदीयं सरस्तदश्वत्थः सोमसवनस्तदपराजिता पूर्ब्रह्मणः प्रभुविमितꣳहिरण्मयम् ॥ ३ ॥

और जिसको लोग अनाशकायण कहते हैं, वह वास्तव में ब्रह्मचर्य है, क्योंकि यह आत्मा (अपना आप) नष्ट नहीं होता (न नश्यति) जिसको पुरुष ब्रह्मचर्य के द्वारा ढूंढपाता है ॥

और जिसको लोग अरण्यायन (जंगल में चले जाना, वानप्रस्थ) कहते हैं, वह वास्तव में ब्रह्मचर्य है, क्योंकि अर और ण्य दो समुद्र (सरोवर) ब्रह्मलोक में हैं अर्थात् यहां से तीसरे द्यौ में, और एक ऐरंमदीय सर है, और एक अश्वत्थ वृक्ष है, जिससे सोम बहता है, और (हिरण्यगर्भ) का अपराजिता एक पुर है और एक सुनहरी प्रभुविमित (प्रभु अर्थात् ब्रह्मा से बनाया हुआ मण्डप) है ॥ ३ ॥

तद्य एवैतावरं चण्यं चार्णवौ ब्रह्मलोके ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति, तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषाꣳसर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ॥ ४ ॥

अब वह लोग जो ब्रह्मचर्य के द्वारा ब्रह्मलोक में वर्तमान अर और ण्य इन दो समुद्रों को ढूंढपाते हैं, यह ब्रह्मलोक उन्हीं लोगों का है, उन के लिये सब लोकों में स्वतन्त्रता है* ॥ ४ ॥

---

* चौथे खण्ड में ब्रह्मलोक की प्राप्ति का साधन ब्रह्मचर्य्य वर्णन किया है, इस पांचवें खण्ड में उस की महिमा दिखलाई है । वह

छठा खण्ड

अथ या एता हृदयस्य नाड्यस्ताः पिङ्गलस्याणि

दर्शाया गया है,कि वैदिक कर्म जो मनुष्य के अन्तःकरण को पवित्र बनाते हैं, और जिनका परम फल ब्रह्मलोक है, ब्रह्मचर्य उन सब की जगह अकेला पूरी कर देता है। यज्ञ ब्रह्मचर्य है,क्योंकि ब्रह्मचर्य वाला उस फल को ब्रह्मचर्य के द्वारा लाभ कर लेता है, जिस को पुरुष यज्ञ के द्वारा लाभ करता है। यज्ञ का परम फल ब्रह्मलोक है, और यह फल ब्रह्मचर्य से प्राप्त हो जाता है। इस लिये यज्ञ भी ब्रह्मचर्यही है इसीप्रकार इष्ट और सत्त्रायण आदिके विषयमें भीजानना चाहिये पर जहां वस्तुतः ब्रह्मचर्य,फल के द्वारा यज्ञ आदि के बाराबर है, वहां दूसरी ओर यहां शब्दों की बनावट से भी ब्रह्मचर्य को उन के बराबर दर्शाया है। जैसे यज्ञ ब्रह्मचर्य है, क्योंकि 'यो ज्ञाता=जो जानने वाला है' से यज्ञ बना है। जो जानने वाला है,वह ब्रह्मचर्य के द्वारा ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है,इसलिये ब्रह्मचर्य यज्ञ है। इसी प्रकार 'इष्ट' 'इष्ट्वा = ढूंढकरके'से;सत्त्रायण;सतः + त्राणम् = सत् सेअपनरिक्षा, से;'मौन' 'मनुते=ध्यान जमाता है' से;अनाशकायन 'न नश्यति=नष्ट नहीं होता है, से; और अरण्यायन. 'अर+ण्य+अयनम्=अर और ण्य को प्राप्त होना'से है इष्ट,यज्ञ विशेष है, सत्त्रायण, वह यज्ञ, जिनमें बहुत यजमान होते हैं। मौन, वाणी का रोकना। अरण्यायन, वन में जाना, वानप्रस्थका जीवन। इन सब का फल ब्रह्मचर्य से मिलजाता है, इसलिये ब्रह्मचर्य का पूर्णतया पालन करना चाहिये॥

'पूर्वदूसरे खण्ड में जो पिता माताआदि कहे हैं, और यहां पांचवें खण्ड में जो ब्रह्मलोक में अर,ण्य दो समुद्र ऐरंमदीय (ऐरं=अन्नसे पूर्ण और मदीय=हर्ष देनेवाला) सर,अश्वत्थ (पीपल) का वृक्ष,जिस से सोमरस वा अमृत बहता है,अपराजिता (जिसको वह लोग नहीं जीत सके,जिनके पास ब्रह्मचर्य का साधन नहीं) पुरी,और सुनहरी मण्डप। यह सब ब्रह्मलोक में मानसरूप से प्रतीत होते हैं, न कि स्थूल रूप से। और शुद्ध हुए अन्तःकरण के संकल्प से प्रकट होते हैं, इस लिये निरतिशय सुख कारक होते हैं, (शंकराचार्य)॥

म्नास्तिष्ठन्ति शुक्लस्य नीलस्य पीतस्य लोहितस्येति। असौ वा आदित्यः पिंगल एष शुक्ल एष नील एष पीत एष लोहितः ॥ १ ॥

※ अब यह जो हृदय की नाडियें हैं,भूरे सूक्ष्म (रस) की भरी हुई हैं.तथा श्वेत,नीले, पीले और लाल की (भरी हुई हैं) और ऐसे ही वह सूर्य भूरा है, श्वेत है.नीला है पीला है और लाल है ॥१॥

तद्यथा महापथ आतत उभौग्रामौ गच्छतीमंचामुंच, एवमेवैता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुंच। अमुष्मादादित्यात् प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः ॥ २ ॥

जैसे एक लम्बी चौड़ी सड़क दोगाओं को जाती है,इधर इस (गाओं) को और उधर उस (गाओं) को.इसी प्रकार यह सूर्य की किरणें दोनों लोकों को जाती हैं, इधर इस लोक (लोक=शरीर) को और उधर उस (लोक = सूर्य) को। वह उस सूर्य से चलती हैं और इन नाडियों में आकर प्रवेश करती हैं;इन नाड़ियों से चलती हैं और सूर्य में जाकर प्रवेश करती हैं ॥ २ ॥

तद् यत्रैतत्सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न वि-

※ बाह्य विषयों की तृष्णा को त्यागकर और ब्रह्मचर्य से सम्पन्न होकर जो पुरुष हृदय कमल में स्थित ब्रह्म की उपासना करता है वह अन्त समय में आत्म पर ध्यान धरता हुआ सूर्या की नाड़ी से निकलकर ब्रह्मलोक को जाता है, यह इस में दिखलाते हैं ॥

जानात्यासु तदा नाडीषु सृप्तो भवति, तं नकश्चन पाप्मास्पृशति, तेजसाहि तदा सम्पन्नो भवति ॥३॥

और जब कोई पुरुष सोया हुआ आराम करता हुआ (बाह्यविषयों के ग्रहण से निवृत्त हुआ) और पूरानिर्मल हुआ (अपने स्वरूप से जो कुछ बाहर है, उससे बेखबर हुआ) स्वप्न को नहीं देखता है (सुषुप्ति में होता है), तब वह इन नाड़ियों में प्रविष्ट हुआ होता है। तब उसे कोई बुराई नहीं छूसक्ती, क्योंकि वह उस समय (सूर्यके) तेज से (जो नाड़ियों में है) व्याप्त होता है ॥ ३ ॥

अथ यत्रैतदबलिमानंनीतो भवति, तमभित आसीना आहुः 'जानासि मां, जनासि मामिति'। सयावदस्माच्छरीरादनुत्क्रान्तो भवति तावज्जानाति ॥४॥

और जब कोई पुरुष पूरी निर्बलता में(मरने के निकट)पहुंच जाता है, तब उसके इधर उधर बैठे हुए (बन्धु बान्धव) उसे कहते हैं 'क्या तुम मुझे जानते हो, क्या तुम मुझे जानते हो ?' वह जब तक इस शरीर से निकल नहीं जाता है,तब तक उनको जानता है॥४॥

अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मभिरूर्ध्वमाक्रमते । स ओमिति वा होद्वामीयते । स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छति। एतद्वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् ॥ ५ ॥

पर जब यह इस शरीर से निकलजाता है,तब वह इन्हीं रश्मियों के द्वारा (जो सूर्य से नाडियों तक फैली हुई हैं) ऊपर चढ़ता है (उनफलों को भोगने के लिये, जो उसने कर्मद्वारा सम्पादन किये

हैं,न कि ज्ञान द्वारा)। अथवा ओम् पर ध्यान जमाता हुआ जाता है, (जब उसने ब्रह्मलोक को जाना होता है,जो उस ने ज्ञानद्वारा जीता है)। वह जितनी देर में मन फेंका जाता है, उतनी देर में सूर्य में पहुंच जाता है। क्योंकि यह (सूर्य) (ब्रह्म) लोक का द्वार है, ज्ञानियों के लिये यह खुला है,और अज्ञानियों के लिये बंद है।५।

तदेषश्लोकः 'शतञ्चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिः सृतैका। तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणेभवन्त्युत्क्रमणे भवन्ति ॥६॥

इस पर यह श्लोक है 'एकसौ एक हृदय की नाड़ियें हैं,उन में से एक मूर्धा की ओर निकली है, उस नाड़ी से ऊपर चढ़ता हुआ (ज्ञानी) अमृतत्व को प्राप्त होता है; दूसरी (नाड़ियें) निकलने में भिन्न २ गति (देने) वाली होती है *,हां,निकलने में (भिन्न २ गति देने वाली) होती हैं ॥ ६ ॥

सातवां खण्ड

'य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकोऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः। स सर्वा ँश्च लोकानाप्नोति सर्वा ँश्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति' ह प्रजापतिरुवाच ॥ १ ॥

† प्रजापति ने कहा 'आत्मा जो कि पाप से अलग है; जरा

---

* देखो कठ॰ उप॰ ६। १६, और मिलाओ प्रश्न॰उप॰ ३।६-७॥

† स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर से अलग आत्मा का स्वस्वरूप (शुद्ध स्वरूप)दिखलाने के लिये प्रजापतिका उपदेश आरम्भ करते हैं।

और मृत्यु से परे है, शोक से परे है; भूख और प्यास से अलग है, सच्ची कामनाओं वाला है और सच्चे संकल्पों वाला है। उसका अन्वेषण करना चाहिये, उसकी जिज्ञासा करनी चाहिये। वह जो इस आत्मा को ढूंढ कर जान लेता है, वह सारे लोकों को और सारी कामनाओं को पालेता है' ॥ १ ॥

तद्धोभये देवासुरा अनुबुबुधिरे । ते होचुः 'हन्तत-मात्मानमन्विच्छामो यमात्मानमन्विष्य सर्वाꣳश्च लोकानाप्नोति सर्वाꣳश्चकामानिति' । इन्द्रो हैव देवानामभिप्रवव्राज, विरोचनोऽसुराणां । तौहासंविदानावेव समित्पाणी प्रजापतिसकाशमाजग्मतुः ॥ २ ॥

देवता और दैत्य दोनों ने यह शब्द सुने, और उन्होंने कहा 'अहो । हमें उस आत्मा का अन्वेषण (तलाश) करना चाहिये, जिस आत्मा को ढूंढकर पुरुष सारे लोकों को और सारी कामनाओं को पालेता है' यह कहकर इन्द्र देवताओं में से और विरोचन असुरों में से गया । वह दोनों बिना एक दूसरे से सलाह किये (शिष्य के तौर पर) समिधा हाथ में लिये प्रजापति के पास आए।२।

तौ ह द्वात्रिꣳशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्य मूषतुस्तौ ह प्रजापतिरुवाच 'किमिच्छन्तावववास्तमिति' । तौ होचतुः 'य आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको ऽविजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः स सर्वाꣳश्चलोकानाप्नोति

सर्वाꣳश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति' भगवतो वचोवेदयन्ते,तमिच्छन्तावत्रवास्तमिति' ॥३॥

वह वहां बत्तीस बरस ब्रह्मचारी बनकर रहे। तब प्रजापति ने उन्हें कहा'तुम दोनों किस प्रयोजन से यहां रह हो'उन दोनों ने उत्तर दिया 'आपके इस वचन का दुनिया में ढंढोरा फिर रहा है' 'कि आत्मा जो कि पाप से अलग है,जरा और मृत्यु से परे है,शोक से परे है भूख और प्यास से अलग है,सच्ची कामनाओं वाला है और सच्चे संकल्पों वाला है, उसका अन्वेषण करना चाहिये उसकी जिज्ञासा करनी चाहिये। वह जो इस आत्मा को ढूंढकर जानलेता है, वह सारे लोकों को और सारी कामनाओं को पालेता है' सो हम दोनों उस (आत्मा) को चाहते हुए आपके पास रहे हैं ॥३॥

तौह प्रजापतिरुवाच 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति'होवाच। 'एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति'। अथ 'योऽयं भगवोऽप्सु परिख्यायते, यश्चायमादर्शे कतम एष इति' 'एष उ एवैषु सर्वेषुष्वेतेषु परिख्यायत इति' होवाच ॥ ४ ॥

प्रजापति ने उन दोनों को कहा 'यह जो आंख में पुरुष दीखता है*यह वह आत्मा है, यह है जो मैंने कहा था,यह अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है' ॥

---

*आत्मा सब के अन्दर है,इस उच्च अभिप्रायसे प्रजापति ने उत्तर दिया है।पर यह जानकर कि उसके शिष्यों ने पुरुष से शरीरही समझा है, उनकाअज्ञान दिखलाने के लियेअगला उपदेशआरम्भ किया है॥

(उन्होंने पूछा) हे भगवन् ! यह जो जलों मे दीखता है, और यह जो शीशे में दीखता है, यह कौनसा है ॥

उसने उत्तर दिया, यह ही इन में, दीखता है, * ॥ ४ ॥

आठवां खण्ड

'उदशराव आत्मानमवेक्ष्य यदात्मनो न विजानीथस्तन्मेप्रब्रूतमिति' । तौ होदशरावेऽवेक्षाञ्चक्राते । तौ ह प्रजापतिरुवाच ' किंपश्यथ इति ' । तौहोचतुः 'सर्व मेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आलोमभ्य आनखेभ्यः प्रतिरूपमिति' ॥ १ ॥

पानी के प्याले में तुम दोनों आत्मा (अपने आप) को देखो, और जो कुछ तुम आत्मा (अपने आप) का नहीं समझे हो, वह मुझे बताओ ॥

उन्हों ने पानी के प्याले में देखा । तब प्रजापति ने उन्हें कहा 'तुम क्या देखते हो' ? ॥

उन्हों ने कहा हे भगवन् ! हम यह पूरा आत्मा को देखरहे हैं रोमों तक और नखोंतक-अपनी पूरी छाया ॥ १ ॥

पहले पहल आत्मा की हस्ती को आंख में दिखलाने से प्रजापति का यह अभिप्राय है, कि वह अपने शिष्यों को पहले पहल जाग्रत में आत्मा की अलग हस्ती का निश्चय कराए ॥

* यह जो आंख में पुरुष दीखता है; इस से प्रजापति का अभिप्राय यह है, कि आंख अपने देखने के काम से जिस की हस्तीकी तर्फ इशारा करती है, वह आत्मा है। क्योंकि देखने वाली असल में आंख नहीं, आंख एक साधन है और वह देखने वाली शक्ति इस से अलग

तौ ह प्रजापतिरुवाच 'साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षेथामिति'। तौ ह साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वोदशरावेऽवेक्षाञ्चक्राते। तौ ह प्रजापतिरुवाच 'किंपश्यथ इति' ॥२॥

प्रजापति ने उन्हें कहा अच्छे २ भूषण और वस्त्र धारकर और अपने आप को साफ सुथरा करके (बाल और नख कटवाकर) फिर पानी के प्याले में देखो। उन दोनों ने अच्छे भूषण और वस्त्र धारकर और अपने आप को साफ सुथरा बनाकर देखा। प्रजापति ने कहा 'क्या देखते हो' ? ॥ २ ॥

तौ होचतुः 'यथैवेदमावां भगवः साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृतौस्व एवमेवेमौ भगवः साध्वलङ्कृतौ सुवसनौ परिष्कृताविति। एष आत्मेति होवाचैतदमृत मभयमेतद्ब्रह्मेति'। तौहशान्तहृदयौ प्रवव्रजतुः॥३॥

उन्हों ने उत्तर दिया हे भगवन् ! जैसे हम यह अच्छे भूषण और वस्त्रधारण किये हुए और साफ सुथरे हुए हुए हैं, इसीप्रकार हे भगवन् ! यह दोनों (हमारे आत्मा अर्थात प्रतिबिम्ब) अच्छे

इसके अन्दर है,जो इस झरोके में बैठकर बाहर के दृश्य देखती है। उसके शिष्य इस अभिप्राय को नहीं पहुंचे हैं, वह आंख के अन्दर बैठकर उस देखने वाले को आत्मा नहीं समझे, किन्तु जो आंख के अन्दर पुरुष का आकार (छाया) दिखता है, उसी को आत्मा समझे हैं, और इस लिये आगे पूछते हैं, कि जो जल में और शीशे में है वह कौन है ? ॥

भूषण और वस्त्र धारण किये हुए और साफ सुथरे हैं* । प्रजापति ने कहा 'यह आत्मा है, यह अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है, तब वह दोनों प्रसन्नचित्त होकर चले गए ॥ ३ ॥

तौ हान्वीक्ष्य प्रजापतिरुवाच 'अनुपलभ्यात्मान-मननुविद्य व्रजतो यतरएतदुपनिषदो भविष्यन्ति देवा वाऽसुरा वा ते पराभविष्यन्तीति' । सहशान्तहृदय एव विरोचनोऽसुरान् जगाम । तेभ्यो हैतामुपनिषदं प्रोवाचात्मैवेह महय्य आत्मा परिचर्य आत्मानमेवेह महयन्नात्मानं परिचरन्नुभौ लोकाववाप्नोतीमश्चा-मुञ्चेति ॥ ४ ॥

उनको देखकर प्रजापतिने कहा 'यह दोनों आत्मा को जाने और ढूंढे बिना (ढूंढकर साक्षात् किये बिना) जाते हैं,इन दोनों में से जो कोई देवता या असुर इस उपनिषद् [देह आत्मा है, इस सिद्धान्त) का अनुसरण करेंगे, वह नष्ट होजाएंगे ॥

अब विरोचन तो वैसा ही प्रसन्नचित्त हुआ असुरों के पास पहुंचा और उनको यह उपनिषद् उपदेशकी, कि आत्मा (देह) केवल यहाँ पूजा के योग्य है,और आत्मा [देह] सेवा के योग्य

* वह दोनों छायाऽऽत्मा को आत्मा समझे थे,प्रजापति ने उनकी भ्रान्ति दूर करने के लिये छाया ऽत्मा की स्थिति देह के आश्रित दिखलाई, तथापि उनकी भ्रान्ति दूर न हुई, इस लिये प्रजापति ने फिर अपने अभिप्रेत आत्मा को मन में रखकर 'यह आत्माहै' इत्यादि उसका स्वरूप कहदिया,जिससे छाया वा देहका आत्मा न होना उन को प्रतीत होजाए,तब भी वह नहीं समझे, औरसन्तुष्ट होकर चलदिये॥

है। और वह जो यहां आत्मा [देह] को पूजता है और आत्मा [देह] की सेवा करता है, दोनों लोकों को लाभ करता है इस [लोक] को और उस [लोक] को ॥ ४ ॥

तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरासुरो बतेति। असुराणाꣳह्येषोपनिषत् प्रेतस्य शरीरं भिक्षया वसनेनालङ्कारेणेति सꣳस्कुर्वन्त्येतेनह्यमुं लोकं जेष्यन्तो मन्यन्ते ॥ ५ ॥

इसलिए अब भी जो यहां न दान देता है, न श्रद्धा रखता है न यज्ञ करता है, उसे लोग कहते हैं, कि यह असुर है क्योंकि यह असुरों की उपनिषद् (आत्मविषयकसिद्धान्त) है। वह मृतक के शरीर को गन्धमाला आदि से, वस्त्रों से और भूषणों से सजाते हैं, और वह ख्याल करते हैं, कि इस प्रकार हम उस लोक को जीतेंगे।५।

नवां खण्ड

अथ हेन्द्रोऽप्राप्यैव देवानेतद्भयं ददर्श। यथैव खल्वयमस्मिञ्छरीरे साध्वलङ्कृते साध्वलङ्कृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृतः, एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ १ ॥

पर इन्द्र ने देवताओं के पास पहुंचने से पहले ही यह भय

(दिक्कत) देखा, कि जैसे यह (छाया जो पानी में है *) अच्छे भूषणों वाला होजाता है, जब शरीर अच्छे भूषणों वाला होता है, अच्छे वस्त्रोंवाला होजाता है, जब शरीर अच्छे वस्त्रोंवाला होता है, अच्छा साफ सुथरा होता है, जब शरीर अच्छा साफ सुथरा होता है, इसीप्रकार शरीर के अन्धाहोने से यह अन्धाहोजाता है,कानाहोने से काना होता है, लूला लंगड़ा होने से लूला लंगड़ा होता है,। सो मैं इस (सिद्धान्त) में कोई भलाई (भोग्य, अच्छा:साफ) नहीं देखता॥१॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय । तꣳप्रजापतिरुवाच 'मघवन् यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः सार्द्धं विरोचनेन, किमिच्छन् पुनरागम इति' । सहोवाच 'यथैवखल्वयं भगवोऽस्मिञ्छरीरे साध्वलङ्कृते साध्वलङ्कृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृतः, एतमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णोऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्रभोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥

(यह जान शिष्य के तौरपर) वह समिधा हाथ में लेकर फिर प्रजापति के पास आया । प्रजापति ने उसे कहा 'मघवन् (इन्द्र) तुम शान्तहृदय होकर विरोचन के साथ चलेगए थे, किस प्रयोजन के लिए तुम फिर वापिस आए हो' ? ॥

---

* यद्यपि प्रजापति का असली अभिप्राय समझने में भ्रान्ति दोनों को हुई है। पर विरोचन ने यह समझा, कि प्रजापति ने शरीर को आत्मा बतलाया है, और इन्द्रने यह समझा कि शरीर की छाया को आत्मा बतलाया है (शंकराचार्य) ॥

उसने कहा हे भगवन्! जिसतरह पर यह (छाया) अच्छे भूषणोंवाला होजाता है, जब शरीर अच्छे भूषणोंवाला होता है। अच्छे वस्त्रोंवाला होजाता है; जब शरीर अच्छे वस्त्रोंवाला होता है और अच्छा साफ सुथरा होता है, जब शरीर अच्छा साफ सुथरा होता है। पर इसीप्रकार इस शरीर के अन्धा होनेपर यह (छाया) अन्धा होता है, काना होनेपर काना होता है, लूला लंगड़ा होनेपर लूला लंगड़ा होता है। और इस शरीर के नाश होने पर यह नाश होजाता है। सो मैं इस (सिद्धान्त) में कोई भलाई नहीं देखता ॥२॥

एवमेवैषमघवन्निति होवाचैतंत्वेव ते भूयोऽनु व्याख्यास्यामि, वसापराणिद्वात्रिꣳशतं वर्षाणीति'। सहापराणिद्वात्रिꣳशतं वर्षाण्युवास। तस्मैहोवाच॥३

उसने उत्तर दिया 'निःसन्देह यह ऐसे ही है हे भगमन्! (तूने ठीक समझा है, क्योंकि छाया आत्मा नहीं है,) पर मैं तुझे उसी (असली आत्मा) का फिर व्याख्यान करूंगा (जिसका व्याख्यान पहले करचुका हूं, तुम जो उसे नहीं समझे, सो तुम्हारे अन्तःकरण पर अभी कोई मैल है, पहले उसके दूर करने के लिए) और बत्तीस बरस मेरे पास (ब्रह्मचर्य) वास करो॥

उसने और बत्तीस बरस उसके पास वास किया, तब उसे प्रजापति ने कहा॥ ३॥

दशवां खण्ड

'य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मेति' होवाच 'एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति'। सह शान्तहृदयः

प्रवव्राज । सहाप्राप्यैव देवानेतद् भयं ददर्श । तद् यद्यपीदꣳशरीरमन्धं भवत्यनन्ध स भवति । यदि स्राममस्रामो, नैवैषोऽस्यदोषेण दुष्यति ॥ १ ॥

यह जो स्वप्न में महिमा अनुभव करता हुआ विचरता है, यह आत्मा है, यह अमृत है, यह अभय है, यह ब्रह्म है ॥

तब इन्द्र शान्तहृदय होकर चलागया। पर देवताओं के पास पहुंचने से पहले ही उसने यह भय देखा। कि यद्यपि यह ठीक है, कि यह शरीर यदि अन्धा भी होजाए, तो वह (स्वप्न द्रष्टा आत्मा) अन्धा नहीं होता, यदि यह काना हो, तो वह काना नहीं होता। न इसके दोष से वह दूषित होता है, ॥ १ ॥

न वधेनास्य हन्यते नास्य स्राम्येणस्रामः। घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छाययन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपिरोदितीव। नाऽहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥ २ ॥

न इसके वध से वह मरता है, न इसके काना होने से वह काना होता है। तथापि इसको मानों मारते हैं, और भगाते हैं (इसका पीछा करते हैं) यह मानों अप्रिय देखता है, और रोता है * । इस लिए मैं इस (सिद्धान्त) में कोई अच्छा फल नहीं देखता ॥ २ ॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय । तꣳह प्रजापति रुवाच। 'मघवन् यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः, किमि-

---

* यद्यपि न कोई उसे मारता है, न भगाता है, न वह अप्रिय देखता है, और न रोता है, तथापि स्वप्न समय में ऐसा ही वह देखता है, इसलिए 'इव' लगाके कहा है प्रजापति ने स्वप्न के द्रष्टा को, आत्मा बतलाने से देहात्मा की भ्रान्ति को दूर कर दिया है ॥

च्छन्न पुनरागम इति' । सहोवाच । 'तद् यद्यपीद्ᳪशरीरमन्धं भवत्यनन्धः स भवति, यदि स्राममस्रामो नैवैषोऽस्य दोषेण दुष्यति ॥ ३ ॥

सो वह सामिधा हाथ में लेकर फिर वापिस आया, उसे प्रजापति ने कहा 'मघवन् ! तुम शान्तहृदय होकर चले गए थे, किस प्रयोजन के लिए फिर वापिस आए हो, ?

उसने कहा 'भगवन् यद्यपि यह ठीक है, कि यह शरीर अन्धा होजाए, तो वह अन्धा नहीं होता, यदि यह काना होजाए, तो वह काना नहीं होता । न यह इसके दोष से दूषित होता है ॥३॥

न वधेनास्यहन्यते नास्य स्राम्येण स्रामः । घ्नन्ति त्वेवैनं विच्छाययन्तीवाप्रियवेत्तेव भवत्यपि रोदितीव । नाहमत्रभोग्यं पश्यामीति' । 'एवमेवैष मघवन्निति' होवाच । एतंत्वेव ते भूयोऽनु व्याख्यास्यामि । वसापराणिद्वात्रिᳪशतं वर्षाणीति' । सहापराणिद्वात्रिᳪशतं वर्षाण्युवास । तस्मैहोवाच ॥४॥

न इसके वध से मरता है । न इसके काना होने से काना होता है । तथापि मानों इसको मारते हैं और भगाते हैं । और यह मानों अप्रिय देखता है और रोता है । सो मैं इस में कोई अच्छा फल नहीं देखता ॥

प्रजापति ने कहा 'निःसन्देह यह ऐसेही है हे मघवन् ! पर मैं इसीको तुझे फिर व्याख्यान करूंगा, अभी और बत्तीस बरस

मेरे पास ब्रह्मचर्य वास करो। उसने और बत्तीस बरस वास किया। तब उसके लिये प्रजापति ने उपदेश दिया ॥ ४ ॥

ग्यारवां खण्ड

'तद् यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्येष आत्मेति' होवाच 'एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्मेति'। सह शान्तहृदयः प्रवव्राज। स हाप्राप्यैव देवानेतद् भयं ददर्श। नाहखल्वयमेवꣳसम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति,नो एवेमानि भूतानि,विनाश मेवापीतो भवति। नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति ॥१॥

जब यह सोया हुआ, आराम करता हुआ सम्प्रसन्न (हिल-चल: से रहित, पूरे आराम में) हुआ, स्वप्न को नहीं देखता है, यह आत्मा है, यह अमृत है, अभय है, ब्रह्म है * ॥

तब इन्द्र शान्तहृदय होकर चलागया। पर देवताओं के पास पहुंचने से पहिले ही उसने यह भय देखा। कि यह (सुषुप्तावस्था का आत्मा) अपने आप को भी इस प्रकार ठीक २ नहीं जानता है, कि यह मैं हूं। और न ही इन भूतों को (जानता है जैसा कि जाग्रत और स्वप्न मे जानता है) मानों विनाश में ही लीन हुआ (विनष्ट हुआ सा) होता है। मैं इस (सिद्धान्त) में कोई अच्छा फल नहीं देखता ॥ १ ॥

स समित्पाणिः पुनरेयाय। तꣳह प्रजापतिरुवाच 'मघवन्! यच्छान्तहृदयः प्राव्राजीः किमिच्छन् पुनरागम

* देखो छान्दो० उप० ८। ६। ३॥

इति' सहोवाच 'नाहखल्वयं भगव ! एवꣳसम्प्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि, विनाशमेवापीतो भवति । नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति॥२॥

तब वह समिधा हाथ में लेकर फिर वापिस आया, उसको प्रजापति ने कहा मघवन् तुम शान्तहृदय होकर चले गए थे, किस प्रयोजन के लिए फिर वापिस आए हो' !

उसने कहा 'हे भगवन् ! यह उस समय अपने आप को भी इस प्रकार ठीक २ नहीं जानता है, कि यह मैं हूं, और न ही इन भूतों को जानता है. मानों विनष्ट हुआ सा होता है । मैं इस में कोई अच्छा फल नहीं देखता हूं ॥ २ ॥

'एव मेवैषमघवान्निति' होवाच 'एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि, नो एवान्यत्रैतस्माद् वसापराणि पञ्च वर्षाणीति' । सहपञ्च वर्षाण्युवास । तान्येकशतꣳ संपेदुरेतत् तद्यदाहुरेकशतꣳहवै वर्षाणि मघवान् प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास । तस्मै होवाच ॥३॥

प्रजापति ने उत्तर दिया 'निःसन्देह हे मघवन् ! यह ऐसे ही है' मैं इसी का *तुझे फिर व्याख्यान करूंगा, इस से भिन्न वह

* जिस आत्मा का पहले जाग्रत् में उपदेश दिया है, उसी का फिर स्वप्न में, फिर सुषुप्ति में । और अब उसी आत्मा का तीनों अवस्थाओं से अलग हुए का स्वस्वरूप वर्णन करेंगे ॥

नहीं है। और पांच बरस यहां वास करो ॥

उसने और पांच बरस वास किया। सो यह एक सौ एक (३२+३२+३२+५=१०१) बरस हुए। जो यह कहा करते हैं, कि इन्द्र ने प्रजापति के पास एक सौ एक बरस ब्रह्मचर्यवास किया। तब प्रजापति ने उसको उपदेश दिया ॥ ३ ॥

बारहवां खण्ड

मघवन् मर्त्यं वा इद ७ शरीरमात्तं मृत्युना। तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानम्। आत्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्याम्। न हवैसशरीरस्य सतःप्रियाप्रियोरपहतिरस्त्यशरीर वाव सन्तं न प्रियाप्रियेस्पृशतः१

* मघवन्! यह शरीर मर्त्य (मरने वाला) है, जो मृत्यु से पकड़ा (ग्रसा) हुआ है। यह इस अमर और अशरीर आत्मा का अधिष्ठान (रहने की जगह) है। जबतक यह सशरीर है (शरीर के साथ एक होरहा है, शरीर में आत्माऽभिमान रखता है) यह प्रिय और अप्रिय (हर्ष शोक) से पकड़ा (ग्रसा) हुआ है। जबतक यह सशरीर है, तब तक प्रिय और अप्रिय का विनाश नहीं होता है। पर जब यह अशरीर होता है (शरीर से अपने आप को अलग समझता है) तब इसको प्रिय और अप्रिय नहीं छूते हैं† ।१।

---

* जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्थाओं में आत्मा को स शरीर दिखलाकर अब अपने निजरूप में आत्मा का स्वरूप दिखलाते हैं, और प्रसंग से यह दिखलाते हैं, कि सुख दुःख और विनाश आदि के सारे भय सशरीरता में हैं, अशरीर आत्मा इन से ऊपर है॥

† दुनिया के हर्ष शोक उस को नहीं छूते, किन्तु ब्रह्मानन्द को तो वह उपभोग करता ही है॥

अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत् स्तनयित्नुरशरीराण्येतानि । तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेनरूपेणाभिनिष्पद्यन्ते ॥ २ ॥

अशरीर है वायु, मेघ, बिजली और गर्जना, यह बिना शरीर के (बिना हाथ पाओं आदि के) हैं, जैसे यह उस आकाश से उठकर परमज्योति को प्राप्त होकर अपने असली रूप से प्रकट होते हैं ॥२॥

एवमेवैष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात् समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः । स तत्र पर्येति जक्षत् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजन ँ स्मरन्निद ँ शरीर ँ स यथा प्रयोग्य आचरणे युक्त एवमेवायमस्मिञ्छरीरे प्राणो युक्तः ॥३॥

इसी प्रकार यह सम्प्रसाद (निर्मल हुआ आत्मा) इस शरीर से उठकर परमज्योति को प्राप्त होकर अपने असली रूप से प्रकट होता है * यह (इस अवस्था में) उत्तम पुरुष है । वह इस शरीर

---

* यहां परमज्योति से एक जगह सूर्य की गर्मी अभिप्रेत है और दूसरी जगह परब्रह्म । वायु जब चल नहीं रहा, तो वह आकाश में आकाश के साथ इसतरह एक होरहा है, जैसे शरीर में शरीर के साथ आत्मा । इसी प्रकार बादल, बिजली और गर्ज भी आकाश में लीन हुए २ हैं । सूर्य की गर्मी पाकर वायु अपने असली रूप को धारणकर बहने लगता है, बादल प्रकट होते हैं, बिजली चमकती है

को जिसमें वह जन्माथा स्मरण न करता हुआ, वहां स्त्रियों के यानों के वा ज्ञातियों के साथ हंसता (वा खाता) खेलता और आनन्द भोगता हुआ विचरता है* जैसे घोड़ा रथमें जुड़ा हुआ होता है, इसी प्रकार इस शरीर में यह प्राण (प्रज्ञात्मा) जुड़ा हुआ है † ॥३॥

अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुरथयो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा गन्धाय घ्राणमथ यो वेदेदमभिव्याहराणीति स आत्माऽभिव्याहारायवागथ यो वेदेद ७ शृणवानीति स आत्मा श्रवणाय श्रोत्रम् ॥ ४ ॥

जहां यह आकाश (आंख के छेद) में नेत्र जड़ा हुआ है, वहां वह चाक्षुष (नेत्रका) पुरुष है. नेत्र उसके देखने के लिए है, (देखने का साधन है) और जो यह जानता है. कि मैं इसे सूंघूं, वह आत्मा है, और घ्राण गन्धग्रहण करने का साधन है, और जो यह जानता है, कि मैं यह बोलूं, वह आत्मा है और वाणी बोलने का साधन है। और जो यह जानता है, कि मैं यह सुनूं, वह आत्मा है, श्रोत्र सुनने का साधन है ॥ ४ ॥

और गर्जना प्रकट होती है। इसी प्रकार यह आत्मा जो स्थूल सूक्ष्म और कारण शरीर में छिपा हुआ है, यह परब्रह्म को पाकर अपने असली रूप में प्रकट होता है। आत्मा के पक्ष में परमज्योति का अर्थ कई व्याख्याताओं ने ब्रह्मविद्या भी लिया है ॥

* यह आनन्द उसे ब्रह्म लोक में होते हैं जो मानस हैं ॥

† जिस तरह रथका चलाने वाला घोड़ा रथ से अलग है इसी प्रकार इस शरीर का चलाने वाला प्रज्ञात्मा इस से अलग है।

अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा मनोऽस्य दैवं चक्षुः । स वा एव एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते ॥ ५ ॥

जो यह जानता है, कि मैं इसे ख्याल करूं, वह आत्मा है, मन उसका दैवनेत्र (दिव्यदृष्टि) है* । वह इस दैवनेत्र-मन से इन कामनाओं को देखता हुआ आनन्द भोगता है ॥ ५ ॥

य एते ब्रह्मलोके । तं वा एतं देवा आत्मानमुपासते, तस्मात् तेषा ँ सर्वे च लोका आत्ताः सर्वे च कामाः । स सर्वा ँ श्च लोकानाप्नोति सर्वा ँ श्च कामान् यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति ह प्रजापतिरुवाच प्रजापतिरुवाच ॥ ६ ॥

जो यह ब्रह्मलोक में हैं । देवता इस आत्मा को उपासते हैं, इस लिए सारे लोक और सारी कामनाएं उनके वश में हैं वह जो इस आत्मा को ढूंढ कर जान लेता है, वह सारे लोकों और सारी कामनाओं को प्राप्त होता है, यह प्रजापति ने कहा, हां, प्रजापति ने कहा ॥ ६ ॥

तेहरवां खण्ड

श्यामाच्छबलं प्रपद्ये शबलाच्छ्यामं प्रपद्येऽश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात् प्रमुच्य भूत्वा

---

* मन दिव्य दृष्टि इस लिये है, कि इस से आत्मा केवल वर्तमान स्थूल और व्यवधान रहित को ही नहीं देखता, किन्तु भूत भविष्यत, सूक्ष्म, दूरस्थित और ओट में स्थित को भी देख लेता है ॥

शरीरम कृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभवामीत्यभि संभवामीति ॥ १ ॥

मैं श्याम (हृदयस्थ ब्रह्म) से शबल(ब्रह्म लोक) को प्राप्त होता हूं। शबल से श्याम को प्राप्त होता हूं *। घोड़ा जैसे रोमों को झाड़ता है इस प्रकार पापों को झाड़कर, चन्द्र जैसे राहु के मुख से (छूटता है) इस तरह छूटकर,शरीर को झाड़कर (देहाभिमान छोड़कर) कृतार्थहुआ अब मैं अकृत (अकार्य) ब्रह्मलोक को प्राप्त होता हूं, हां, प्राप्त होता हूं ॥

चौदहवां खण्ड

आकाशोवै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता, ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतꣳस आत्मा।प्रजापतेःसभां वेश्मप्रपद्ये यशोऽहं भवामि ब्रह्मणानां यशोराज्ञां यशोविशाम्। यशोहमनु प्रापत्सि सहाहं यशसां यशः।श्येतमदत्कमदत्कꣳश्येतं लिन्दुमाभिगां लिन्दुमाभिगाम्॥१॥

आकाश † है जो सारे नाम औ रूप का निर्वाह करनेवला है। वह दोनों (नाम और रूप) जिसके मध्य में हैं वह ब्रह्म है,

* पर और अपर ब्रह्म को श्याम और शबल नाम से वर्णन किया है। श्याम, कालावर्ण और शबल,चितकबरा। ब्रह्म का शुद्ध स्वरूप मन वाणी से परे हैं, वह अज्ञेय है,उस पर अन्धेरा है, इस लिये वह श्याम है। और शबल के धर्म सापेक्ष हैं (बाहर के पदार्थों की अपेक्षा से हैं) इसलिये उसका यह स्वरूप दोरंगा कहा है॥

† आकाश यहां ब्रह्म को कहा है, क्योंकि वह आकाश की नाई अशरीर है और परमसूक्ष्म है॥

वह अमृत है, वह आत्मा है। मैं प्रजापति की सभा* को, प्राप्त होता हूं मैं ब्राह्मणों में से यशरूप होता हूं क्षत्रियों में से यशरूप, वैश्यों में से यशरूप होता हूं। मैंने उस यश को पालिया है, मैं यशों का यश हूं मैं श्वेत को, जिसका कोई दान्त नहीं तथापि खानेवाला है, ऐसे श्वेत घर को प्राप्त न होऊं † हां इस घर को प्राप्त न होऊं॥

पन्द्रहवां खण्ड

तद्धैतद् ब्रह्मा प्रजापतय उवाच, प्रजापतिर्मनवे मनुः प्रजाभ्यः। आचार्यकुलाद् वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानो धार्मिकान् विदधदात्मनि सर्वेन्द्रियाणि संप्रतिष्ठाप्याहिंसन् सर्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते। न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते॥ १॥

यह (आत्मज्ञान) ब्रह्मा ने प्रजापति को बतलाया, प्रजापति ने मनु को, मनु ने प्रजाओं को ‡ (इस प्रकार सम्प्रदाय की परम्परा

---

* प्रजापति की सभा, प्रभुविमित हारिणमय (देखो पूर्व ८।५।३)

† श्येतं=वर्णतः पक्वबदरसम रोहितम्। तथा ऽदत्कं=दन्तरहित मपि अदत्कं=भक्ष। यितृ=स्त्री व्यञ्जनं (योनि शब्दितं प्रजननेन्द्रियमि त्यर्थः)=तत्प्रविष्टानां तेजो बलवीर्यविज्ञानधर्माणामपहन्तृ=विनाशयित्रित्येतत्। यदेवं लक्षणं श्वेतं लिन्दु=पिच्छिलं, तन्माऽभिगां गच्छेयम्। (शंकराचार्य)

‡ प्रजापति=कश्यप। और मनु, कश्यप का पुत्र (शंकराचार्य)

से आया हुआ यह उपनिषद्विज्ञान अब तक सुरक्षित है) । चाहिए कि आचार्यकुल में जाकर, गुरु की सेवा और जो उसका कर्तव्य है उसको पूरा करता हुआ बाकी बचे हुए समय में यथाविधि वेद को पढ़े। फिर समावर्तन होने के पीछे कुटुम्ब में स्थिर होकर शुद्ध देश में स्वाध्याय पढ़ता हुआ और (पुत्र तथा शिष्यों को) धार्मिक बनाता हुआ, अपने सारे इन्द्रियों को आत्मा (हार्दब्रह्म) में लीन करके सिवाय तीर्थों के * किसी भी प्राणी को पीड़ा न देवे। वह आयुभर ऐसा वर्तता है, वह ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है, और फिर वापिस नहीं आता है, हां, फिर वापिस नहीं आता है † ॥ १ ॥

छान्दोग्य उपनिषद् का शान्ति पाठ—ओं० आप्यायन्तु ममाङ्गानि वाक् प्राणश्चक्षुः श्रोत्रमथो बलमिन्द्रियाणि च सर्वाणि सर्वं ब्रह्मौपनिषदं माहं ब्रह्म निराकुर्यां मामा ब्रह्म निराकारोदनिराकरणमस्त्वनिराकरणं मेऽस्तु । तदात्मनि निरते य उपनिषत्सु धर्मास्ते मयि सन्तु ते मयि सन्तु ॥

ओं शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!! ॥

समाप्तेयं छान्दोग्योपनिषत्

॥ ओं तत्सत् ॥

---

* शिक्षा के निमित्त घूमने आदि से भी प्राणियों को [illegible] होसकी है, इसलिए कहा है सिवाय तीर्थों के । तीर्थ अर्थात् [illegible] विषय में शास्त्र अनुज्ञा देता है, उन के सिवाय (शंकराचार्य)

† अर्थात् शरीरग्रहण करने के लिए फिर वापिस नहीं [illegible] (चन्द्र लोक से जैसे पुनरावृत्ति होती है, उसकी नाईं) [illegible]लोक से भी प्राप्त हुई जो पुनरावृति है, उसका यह निषेध है । अर्थात् अर्चिरादि मार्ग से कार्य ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर जबतक ब्रह्मलोक की स्थिति है, तबतक वहीं रहता है, उससे पहले, (अर्थात् महाप्रलय से पहले) वापिस नहीं आता है, यह अभिप्राय है (शंकराचार्य) ॥

इस तहकीकात का कोई अंक नहीं। पं०जी ने अपनी तहकीकात से बड़ी उत्तमता से असली ऐतिहासिक बातों की छान बीन की है, हर एक हिन्दु को इसे पढ़ना चाहिये, यह उनके लिए बड़ा उपयोगी है" ग्राहकों के सुभीते के लिए पर्व २ अलग २ छापा गया है। आदि पर्व मूल्य १।=) सभापर्व मूल्य ॥=) वनपर्व—विराटपर्व मूल्य १॥) उद्योगपर्व॥।)भीष्म पर्व)

(३) द्रौपदी का पति केवल अर्जुन था— —)

(४) स्वामी शंकराचार्यका जीवन चरित्र-कुमारिलभट्ट और मण्डन मिश्रका जीवन चरित्र भी साथ है मूल्य ॥)

(५)निरुक्त-हिन्दी भाष्य सहित,वेद का अर्थ जानने के लिए निरुक्त एक कुंजी है। उसका हिन्दी भाष्य बड़ा खोल कर लिखा गया है। इस पर प्रसन्न होकर गवर्नमिन्ट ने पं०राजाराम जीको २००) इनाम दिया है। ऐसे गम्भीर और बृहत् पुस्तक का मूल्य भी सस्ता है केवल ४)

(६) मनुस्मृति—इस पर भी गवर्नमिन्ट से १००) रु० इनाम मिला है। मूल संस्कृत, सरल हिन्दी भाष्य, पुरानी सात संस्कृत टीकाओं के अर्थों के भेद, और उस २ विषय पर याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियों के हवाले, यह सब इस में दिया गया है, इस के पहले की मनुस्मृति एक भी नहीं छपी-मूल्य ३)

(७) बालव्याकरण—इस पर भी २००)इनाम मिला है और टैकस्ट बुक कमेटी ने मिडल स्कूलों मे कोर्स रखा है।=)॥

(८) श्रीमद्भगवद्गीता—इस पर भी पण्डित जी को गवर्नमिन्ट से ३००) इनाम मिला है। मूल श्लोक के नीचे पद